गुरुकुल स्वाध्यायमञ्जरी का दशम पुष्प

सन्ध्या सुमन

लेखक—नित्यानन्द वेदालङ्कार

संवत १९९६ की भेंट

गुरुकुल स्वाध्याय-मन्जरी का दशम पुष्प

सन्ध्या सुमन

लेखक—
पं० नित्यानन्द वेदालङ्कार

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर से
संवत् १९९६ के लिए सप्रेम भेंट

खरीदने वाले सज्जनों के लिए } { मूल्य एक रुपया

प्रकाशक—

मुख्याधिष्ठाता

गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी

हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रथम संस्करण—

१००० प्रति

मुद्रक—

चौधरी हुलासराय

गुरुकुल यन्त्रालय,

गुरुकुल कांगड़ी ।

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के

सदस्यों की सेवा में

प्रिय महोदय,

नवीन वर्ष के साथ 'स्वाध्याय-मञ्जरी' का यह सुरभित "सन्ध्या-सुमन" आपको समर्पित है। आप इसे स्वीकार कीजिये।

मुझे प्रसन्नता है कि मैं आपको एक ऐसा उपहार देने में समर्थ हो सका हूं जो कि आपकी आध्यात्मिक भूख की तृप्ति कर सकेगा। संवत् १९९६ की यह भेंट आशा है आपको एक नवीन स्फूर्ति और जीवन दे सकेगी।

दैनिक संध्या में इससे कुछ भी नया जीवन और उल्लास आसका तो मैं गुरुकुल की इस भेंट को सफल समझूंगा।

सत्यव्रत

मुख्याधिष्ठाता

गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी

समर्पण

सब विचार-तरङ्गों के आदि स्रोत

परम पिता परमात्मा के

चरण कमलों में

भक्तिभाव से यह

'सन्ध्या-सुमन'

समर्पित करने के पश्चात्

अपनी पूज्या प्रभु-परायणा सरल हृदया स्नेहमयी जननी

स्वर्गीया श्री यशोदादेवी जी

की

पुण्यस्मृति में—

विनीत पुत्र

नित्यानन्द

प्राक्कथन

न तो मैं विद्वान् हूँ, न कोई साधक हूँ और न कोई उपासक ही हूँ। प्रश्न हो सकता है कि फिर मैंने ब्रह्म-यज्ञ (सन्ध्या) जैसे आध्यात्म विषय पर अपनी लेखनी उठाने का साहस ही क्यों किया ? इसके मुख्यतः दो कारण हैं:—

मैं इस कार्य्य में कतिपय आर्य्य सज्जनों की प्रेरणा से प्रवृत्त हुआ हूं। दो वर्ष पूर्व मुझे शिमला समाज में 'संध्या' पर व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हुआ था। बहुत से भाइयों का आग्रह हुआ कि मैं अपने व्याख्यानों को लेख बद्ध कर दूँ। उनके बार बार के आग्रह को मेरे लिए टाल सकना असम्भव सा हो गया। अब उन व्याख्यानों को ही परिष्कृत और परिवर्धित करके पुस्तक का रूप देने का प्रयत्न किया है।

दूसरा कारण यह है कि जो इस समय तक संध्या पर पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें से कुछ वस्तुतः बहुत उत्तम होते हुए भी सर्व साधारण के लिए मुझे वे सरल, सुबोध, रोचक तथा सर्वाङ्ग पूर्ण प्रतीत न हुई, इस लिए यह तुच्छ

प्रयास है। यद्यपि यह अधिकांश में अनधिकार चर्चा है। इन आध्यात्म भावों की चर्चा तो वीतराग विद्वानों तथा सच्चे सन्यासियों को ही सुहाती है, जिनका आसन उपासक–समाज में ऊंचा हो । उदार पाठक वृन्द इस अनधिकार चेष्टा के लिए मुझे क्षमा प्रदान करेंगे।

पुस्तक में अपना कुछ नहीं, भाव सब ऋषि के हैं। ऋषि के भावों को ही भाषा की सुन्दर ओढ़नी ओढ़ा कर सर्व साधारण के लिए रुचिकर, आकर्षक और उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है। जिन ऋषियों तथा बिद्वान् लेखकों के ग्रन्थों से इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली गई हे उनका मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। अपनी भतीजी स्नातिका सीताकुमारी 'हिन्दी प्रभाकर' को जिसने कई स्थलों पर मंत्र के गूढ़ भाव के चिन्तन में सहायता की है तथा बड़े परिश्रम और मनोयोग से पुस्तक की प्रति लिपि कर देने का कष्ट किया है धन्यवाद देना अपने को ही धन्ययाद देना समझता हूँ। अन्त में शिमला की Barnes court को जाने वाली शान्त और एकान्त कही जा सकने वाली सड़क, जिस पर प्रातः सायं भ्रमण करते हुए इस पुस्तक के बहुत से दिव्य विचारों का जन्म हुआ है धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। जड़ पदार्थ को धन्यवाद करने की पद्धति नहीं और शायद इसे मूर्खतापूर्ण समझा जाय

परन्तु अपनी कृतज्ञता की अनुभूति का प्रकाशन मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ है।

अन्त में यही नम्र निवेदन है कि इस पुस्तक का प्रत्येक शब्द विचार पूर्वक लिखा गया है। यदि स्वाध्यायशील पाठक इसे मनन-पूर्वक पढ़ेंगे तो आशा है कि यह पुस्तक सेवा कर सिद्ध होगी और प्रयास सफल हो सकेगा।

शिमला
१५ सितम्बर १९३८

नित्यानन्द वेदालङ्कार

उपक्रमणिका

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'

सन्ध्या की महिमा

हमारे प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये प्रति दिन करने के लिये जो पांच † यज्ञ निश्चित किये हैं, उन में सन्ध्या सब से प्रथम है। सन्ध्या के नाम से प्रत्येक आर्य परिचित है। प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने सन्ध्या की महिमा का बड़ा बखान किया है। मनु महाराज मनुस्मृति में सन्ध्याकी महिमा बताते हुए लिखते हैं:—

सन्ध्यामुपास्ते ये तु सततं शांसितव्रताः
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं अनामयम् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य नियम पूर्वक सतत सन्ध्योपासन करते हैं वे पुरुष निष्पाप होकर निरामय ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं। मनु महाज ने यहां तक कहा है:—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्
स शूद्रवत् वहिष्कार्य्यः सर्वस्माद् द्विज कर्मणः ॥

(मनु० २. १. ३.)

---

† १ ब्रह्मयज्ञ २ देवयज्ञ ३ पितृयज्ञ ४ बलिवैश्वदेवयज्ञ तथा ५ अतिथि यज्ञ ।

जो प्रातः सांय दोनों समय सन्ध्या नहीं करता वह समस्त द्विजातियों के कर्मों से शूद्रवत् पृथक् करने योग्य है। 'दक्ष' ऋषि अपनी 'दक्षस्मृति' में लिखते हैं:—

सन्ध्या हीनोऽशुचि नित्यमनर्हः सर्व कर्मसु
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फल भाग्भवेत् ॥

(दक्षस्मृति. २. २०)

"सन्ध्या न करने वाला व्यक्ति अपवित्र तथा सब उत्तम कर्मों के अयोग्य है। वह जो कर्म करता है वह सफल नहीं होता।"

पुराण ग्रन्थों में भी सन्ध्या को आवश्यक कर्तव्य समझा गया है। विष्णु पुराण के कर्ता लिखते हैं:—

उपातिष्ठन्ति वै सन्ध्यां ये न पूर्वां न पश्चिमाम्
व्रजन्ति ते दुरात्मानस्तामिस्रं नरकं नृप !!

(विष्णुपुराण ३. ११. १००)

अर्थात्—हे राजन्! जो प्रातः सायं की सन्ध्या नहीं करते वे दुरात्मा लोग अन्धकार पूर्ण नरक में जाते हैं। बौद्ध-धर्म सूत्र में लिखा है:—

प्रातः सायं सदा सन्ध्यां ये विप्रा नोपासते
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्र कर्मसु योजयेत् ॥

(बौद्ध धर्मसूत्र २. ४. २०)

अर्थात्—"जो ब्राह्मण प्रातः सायं की सन्ध्या को सदा नहीं करते उन्हें धर्मात्मा राजा शूद्रों के कर्मों में नियुक्त करे।"

इन उद्धारणों से सन्ध्या का महत्व स्पष्ट है। सन्ध्या आत्मिक भूमिका में उन्नति प्राप्त करने का प्रधान साधन है या यों कहना चाहिए कि अध्यात्मिक जगत् में प्रवेश करने का सन्ध्या मुख्य द्वार है।

सन्ध्या का अर्थ

'सन्ध्या' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है एक 'सं' दूसरा ध्यैङ्। 'सं' उपसर्ग है और 'ध्यैङ्' धातु है। 'सं' उपसर्ग का अर्थ है उत्तम प्रकार से और ध्यैङ् धातु का अर्थ है ध्यान करना (Meditation)।

'सन्ध्या' शब्द का दूसरा अर्थ सन्धि, मेल, व योग है। सन्ध्या के समय साधक का प्रभु के साथ सम्बन्ध मेल व योग होता है। इस आशय का प्रकाश यह दूसरा अर्थ कर रहा है।

ऋषि ने सन्ध्या का अर्थ किया है–'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। भलीभान्ति ध्यान करते हैं वा ध्यान कया जाय परमेश्वर का जिस में, वह सन्ध्या है। सन्ध्या शब्द की इस व्युत्पत्ति से सन्ध्या के उद्देश्य की सूचना मिलती है। सन्ध्या का मुख्य उद्देश्य 'परब्रह्म का ध्यान' है।

सन्ध्या संस्कृत में ही क्यों ?

यह प्रश्न पूछा जाता है कि 'सन्ध्या' संस्कृत म ही क्यों की जाय ? बहुत वार यह प्रश्न उन लोगों की तरफ़ से किया जाता है जो सन्ध्या करते नहीं या कोई बहाना ढूंढ कर सन्ध्या से छुट्टी पाना चाहते हैं। फिर भी प्रश्न में सचाई का अंश है। सन्ध्या का अर्थ—परब्रह्म का ध्यान व चिन्तन है। वह तो किसी भी भाषा में हो सकता है। फिर परमात्मा तो भाषा के झगड़ों से ऊपर है। यह समझना कि परमात्मा संस्कृत भाषा ही समझता है, ना समझी है। वेद मन्त्रों से की गई स्तुति व प्रार्थना से परमात्मा अधिक प्रसन्न होता है, यह समझना संकीर्णता है। प्रभु तो प्राणि-मात्र के हृदेश में विराजमान है। वह हमारे हृदय में उठने वाली भावनाओं को भाषा में प्रकट होने से पहिले ही जानता है। इस से स्पष्ट है कि किसी भी भाषा में भगवान् की स्तुति व उपासना हो सकती है। फिर पूछा जा सकता है कि संस्कृत भाषा में वेद मंत्रों से सन्ध्या अर्थात् भगवद् भजन करने की जरुरत क्या ?

सन्ध्या संस्कृत में ही हो सकती है ऐसा मेरा आग्रह तथा संकीर्ण विचार नहीं। हृदय की भाषा में भगवान् से मिला जा सकता है, परन्तु जब सन्ध्या के मंत्रों का सौन्दर्य्य, माधुर्य, तथा भावगम्भीर्य देखता हूँ तो ऐसा मोहित होता हूं कि कुछ संकुचित होने को जी चाहता है। हृदय से निकली भाषा में

भजन हो सकता है यह ठीक है, परन्तु उस में वेद मन्त्रों सा मधुर्य और दिव्यता आ नहीं सकती। सन्तों की वाणी वही जो हमारी है, शब्द-विन्यास वही, वाक्य रचना वही, परन्तु फिर भी उनकी वाणी में एक पवित्रता और दिव्यता होती है। उनके श्रीमुख से निकला एक २ वाक्य विचित्र दिव्यता लिये हुए, श्रोता के हृदय को स्पर्श करने वाला तथा युग २ तक स्मरणीय होता है। इस पवित्रता और दिव्यता का कारण है उनका पवित्र हृदय और दिव्य दृष्टि। साधारण व्यक्ति लाख कोशिश करे पर उस पवित्रता और दिव्यता को नहीं पहुँच सकता। ठीक इसी प्रकार दिव्य-दृष्टि-संपन्न ऋषियों के पवित्र अन्तः करणों में प्रभु–प्रेरणा से आविष्कृत मंत्रों में जो माधुर्य गाम्भीर्य और दिव्यता है वह हमारे हृदय से निकली स्तुति व प्रार्थना में आ नहीं सकती। यही कारण है कि वेद मन्त्र के आशय को हृदयङ्गम कर लेने पर मन स्वयं मग्न होता है और जी चाहता है कि वेद मन्त्र को बार २ गावें और गाते जावें। जो उस समय आनन्द अनुभव होता है। वह 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' अनिर्वचनीय तथा अपने अन्तः-करण का ही विषय है।

सच तो यह है कि लेखक को स्वयं सन्ध्या के कुछ मंत्रों का मनन करते हुए बड़ा आनन्द मिला है। उदाहरणार्थ-लेखक ने 'देवं वहन्ति केतवः' 'देवं देवत्रासूर्यमगन्मज्योतिरुत्त-

मम्' 'चित्रं देवानामुदगादनीम्' इत्यादि मंत्रांशों को मग्न होकर प्रातः काल से सायं काल तक सैकड़ों बार—गाना न जानते हुए भी— भिन्न २ स्वरों में गाया गया है। 'चित्रं देवानां' की रट सुन कर तो पास में बैठी बहिनें बोल उठी थीं 'भैय्या ! आज क्या पागल हुए हो'। उत्तर दिया था 'पागलपन नहीं, मस्ती और आनन्द फूट रहा है'।

ज़रा ऊपर उद्धृत मंत्रांशों को अपनी भाषा में उल्था कर देखिये, मालूम पड़ेगा कि मंत्रों का आत्मा निकल गया है। इसलिये वेद मंत्रों द्वारा उपासना शीघ्र फलदायक है। यह नहीं कि वेद मंत्रों की प्रभु के दरबार में सुनाई जल्दी होती है, परन्तु यह कि वेद मंत्रों की पवित्रता और दिव्यता अन्तःकरण को शान्त और भक्तिप्रवण बनाने में सहायक है। सन्ध्या व भगवद्भजन के लिये यही आवश्यक है।

सन्ध्या संकृत में ही क्यों, यह आम प्रश्न है। इसलिये इस सम्बन्ध में आर्य सामाजिक जगत् के दो प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मति यहां उद्धृत करना उचित होगा। स्वर्गीय श्री पं०-चमूपति जी लिखते हैं:—

"सन्ध्या संस्कृत में क्यों करूँ ? मुझे उसके अर्थ नहीं आते। आर्य्य भाषा अपनी जातीय तथा राष्ट्र भाषा है। मैं उसी में प्रभु से बात करूँगा। उपासक-मण्डल के पक्षी ! तू पार्थिव भाषाओं के आकाश से ऊंचा उड़। अजात

के आगे जाति का बखेड़ा न डाल। इस ममला को छोड़। तू ईश्वर की वाणी में ईश्वर से वार्तालाप कर। जगत् जननी की गोद में बैठ कर तू वही संथा सुना जो तुझे सृष्टि के आदि में सुनाई गई। वेदों की भाषा किसी जाति अथवा देश विशेष की भाषा नहीं। यदि है तो मनुष्य मात्र की। संसार की तो गुप्त २ भाषाओं से भी तू परिचय पाने का यत्न करता है, और पुरानी तथा नई पुस्तकों, शिलाओं, लिपियों तथा स्मारकों की खोज़ से पुराने मनुष्यों के मनो-विकास का पता लगता है, और उस सकल वाणी के स्रोत, ज्ञान के भण्डार, वेद की ओर जाता ही नहीं, जिसमें जातियों के सांझे पूर्वज परमेश्वर ने अपना अनादि विचार प्रकट किया है। वेद के अर्थ सरल हैं। आदिम ऋषि विना कुछ और जाने इन मंत्रों का अभिप्राय जान सके। तुझे भी इन में बहुत परिश्रम न होगा।"
श्री पं० बुद्धदेव जी ने भी इस सम्बन्ध में लिखा है:—

"परमेश्वर का भजन संस्कृत भाषा में ही हो सकता है तथा अन्य भाषा में नहीं, ईश्वर कह कर पुकारने से वह अधिक प्रसन्न होता है किन्तु सच्चे हृदय से अल्लाह कहने से वह नाराज़ होता है, यह समझना भूल है। फिर प्रश्न होता है कि ऋषि दयानन्द ने पंच-महायज्ञ-विधि में जो सन्ध्या लिखी है उसके द्वारा भजन क्यों किया जाय ? इसका उत्तर

यह है कि ध्यान करने के समय जो विघ्न उपस्थित होते है, ध्यान करने वाले को जिन २ भूमिकाओं से गुजरना पड़ता है, ध्यान के लिये जो योग के आठ अङ्ग कहे गये हैं उन सबका ऐसा सुसंगत समावेश इससे अधिक मार्मिक तथा भावगर्भ शब्दों में अन्यत्र नहीं मिलता। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि अन्य मार्ग से भजन नहीं हो सकता। एक मनुष्य के शरीर के लिये किस २ प्रकार का भोजन अपेक्षित है इसका वैज्ञानिक रीति से विचार करके चतुर वैद्य, जो भोजन-पत्र तैयार करते हैं, उसके अनुसार एक व्यायाम शील मनुष्य का शरीर अतिवेग से उन्नति करता है। परन्तु यदि मनुष्य व्यायाम शील हो और साधारण भोजन भी करे तो उससे पर्याप्त पुष्टि-कारक पदार्थ निकाल लेता है। लोग किसी देश, काल अथवा भाषा में भजन करें उसकी आत्मा वलवान् होकर न केवल अपने किन्तु अपने भाइयों के भी दुःख निवारण में समर्थ होती है। परन्तु जो पद्धति ठीक क्रम से बनाई गई है वह शीघ्रफल-दायक होती है।"

सन्ध्या में मन न लगने के कारण

सन्ध्या करने वालों की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि चाहते भी सन्ध्या में मन नहीं लगता। चार घड़ी शान्त चित्त होकर बैठना मुश्किल मालूम देता है। सन्ध्या का अर्थ है 'सम्यक् ध्यान' परन्तु जब सन्ध्या के लिये

बैठो तो मन लोक लोकान्तरों की सैर के लिये चल देता है। आंख मूँद कर ज़रा बैठे कि अगली पिछली सब एक २ करके याद आने लगती है। इधर उधर की सब चिन्ताएँ आ घेरती हैं, सन्ध्या छूट जाती है।

(क) मंत्रों के गूढ़ भाव का अपरिज्ञान

इसका सब से प्रथम कारण यह है कि हमने सन्ध्या को समझा नहीं। सहस्रों में से पांच दस व्यक्ति ही भली भान्ति समझ कर सन्ध्या करते हैं, यह कहना शायद शिक्षित-वर्ग का तिरस्कार समझा जाय, परन्तु इस कथन में तथ्य का अंश अवश्य है। सर्व साधारण की सन्ध्या तोते की रटन से बढ़ कर नहीं। मंत्रों के शब्द जाल में गुंथी हुई भावनाओं को बिना समझे ही हम समाहित हुआ चाहते हैं यह सम्भव नहीं।

मन लगा सकने के लिये सबसे प्रथम सन्ध्या पर लिखी किसी उत्तम पुस्तक को उठाकर मन्त्रों के एक २ शब्द के गम्भीर आशय को समझना चाहिए। सन्ध्या के शब्दों के सौन्दर्य, माधुर्य और भावगाम्भीर्य को समझ लेने पर यदि प्रयत्न हो तो मन का समाहित हो सकना मुश्किल नहीं। मन्त्रों के शब्द जाल में ओत प्रोत भावनाओं पर ध्यान रखने से मन को दौड़ धूप के लिये विस्तृत मैदान मिल जाने के कारण मन थक थका कर एकाग्र होने लगता है।

जिस मंत्र के अर्थ से मन बचता हो उसका फिर २ पाठ कीजिये । जब तक मंत्र का अर्थ एक बार हृदय में से न गुजर जाय तब तक मंत्र को न छोड़िए । इस प्रकार कुछ काल तक अभ्यास से मंत्र पर मन लगाते ही उसका गम्भीर अर्थ स्फुरित होगा। चित्त को चंचल बनाने वाले विचार और चिन्ताएँ शान्त होंगी और अन्तःकरण में एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव होगा। सन्ध्या साधक के स्वाभाव का अंग बनती जायगी, मन न लगने की शिकायत मिटती प्रतीत होगी ।

(ख) योग्य स्थान का अभाव—इस शिकायत का दूसरा कारण संध्या के लिए शान्त, पवित्र और एकान्त स्थान का दुर्लभ होना है । संध्या के लिए स्थान का निर्देश करते हुए मनु महाराज लिखते हैं:—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः
सावित्रीमप्यधीयित गत्वारण्यं समाश्रितः ।

(मनु० २. १०४)

अर्थात् जंगल में जा कर जल के समीप बैठ कर नित्य कर्म से निवृत्त होकर एकाग्र चित्त से गायत्री का जाप करे ।

यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि जंगल की प्राकृतिक शोभा और नदी तट का आल्हादजनक रमणीय

निस्सहाय अवस्था का अनुभव होता है और असाधारण शक्ति पाने के लिए हृदय से पुकार उठती है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में शक्ति पाने के लिए व्याकुल हो उठे तथा निस्सहायता अनुभव कर रहे किसी ऐसे ही भक्त के हृदय की पुकार है:—

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृड्य।
त्वामवस्युराचके॥
(यजु० ५१. १)

अर्थात्—हे वरुण! मेरी इस पुकार को सुन, आज तो मुझे सुखी कर। मैं तेरी शरण में आया हुआ तुमसे रक्षा तथा सहायता चाहता हुआ प्रार्थना कर रहा हूँ।

यह निस्सहाय अवस्था का अनुभव ही आध्यात्मिक भूख है। इस भूख के चमक उठने पर सन्ध्या-रूपी आध्यात्मिक भोजन ऐसा स्वादिष्ट लगने लगता है जैसे भूखे को रोटी का टुकड़ा। मन्त्रों में मिठास मालूम देता है। मनन आरम्भ होता है। मन्त्रों का रहस्य आपसे आप खुलने लगता है। मन स्थिर और समाहित होता है।

प्रभु कृपा करें, हमें सच्ची आध्यात्मिक भूख लगे जिससे सन्ध्या रूपी आध्यात्मिक भोजन का हम आनन्द ले सकें।

दृश्य चित्त को समाहित करने में बहुत सहायक है। सर्व-साधारण को ऐसे सुन्दर और स्वच्छ स्थान सुलभ नहीं और न इतनी कर्म परायणता ही है कि प्रातः सायं सन्ध्या के लिए वन को चले जांय। यह ठीक है कि सन्ध्या में स्थान का स्थान बाह्य होने से गौण है, फिर भी योग्य स्थान का आभाव चंचल चित्त वृत्तियों को और अधिक चंचल बनाने में पर्याप्त है। जहां तहां बैठ कर सन्ध्या हो सकेगी यह सम्भव नहीं। स्थान अशुचि हो, वासनों की खटपट हो, बच्चों का शोर गुल हो और मन समाहित हो जाए यह असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए अपने घर में ही सबसे पवित्रतम, उज्ज्वल और शान्त स्थान सन्ध्यो-पासन के लिए निश्चित करना चाहिए। यह शान्त स्थान व कमरा केवल सन्ध्योपासन के लिए नियत होना चाहिये। उपासना के लिए नियत किए इस देवघर में सामान भी वही होना चाहिये जिसका उपासना के लिए उपयोग हो सकता हो। लेखक बड़े दुःख से अनुभव करता है कि निर्धन भारतीयों में इतनी शक्ति नहीं कि वे अपने घर में इस प्रकार के संध्यालय बना सकें। जिनमें शक्ति हो उन्हें अपने गृहों में सन्ध्यालय का प्रबन्ध करना चाहिए। साधारण जनों के लिए गली २ में उपासना मंदिर बनने चाहिएं जहां सर्व

साधरण जाकर सन्ध्योपासन कर सकें। दानी महाशय इस पवित्र कार्य्य में अपने धन का क्या सदुपयोग करेंगे ?

(क) उद्देश्य हीन जीवन

संध्या में मन न लगने का तीसरा और सबसे मुख्य कारण है जीवन का उद्देश्य हीन होना संध्या आध्यात्मिक भोजन है परन्तु यह स्वादिष्ट नहीं लगता। कारण, सच्ची भूख नहीं। भूख होने पर तो रोटी का टुकड़ा भी अमृत प्रतीत होता है।

सच्ची अध्यात्मिक भूख क्यों नहीं ? कारण जीवन किसी उच्च उद्दश्य के लिये अर्पण नहीं। मनुष्य-जीवन किस कठोर साधना का परिणाम है यह समझा ही नहीं। इस लिए खा पी कर और मौज मजा कर के अपने जीवन के अमूल्य दिनों को खो रहे हैं। यदि हमारे समने जीवन का कोई उच्च उद्देश्य हो तो उस महान् उद्देश्य को प्राप्त कर पाने के लिये असाधारण शक्ति की आवश्यकता अनुभव होगी। मनुष्य की शक्तियां सीमित और साधारण हैं। सर्व साधारण को असाधारण शक्ति की आवश्यकता प्रतीत न होने से अपनी शक्तियों की तुच्छता का अनुभव नहीं होता। यदि संकल्प की प्रदीप्त अग्नि प्रज्वलित हो और संपूर्ण जीवन किसी महान् उद्देश्य के लिये अर्पण किया हुआ हो तो व्यक्ति को अपनी शक्तियों की परिमितता का परिज्ञान होता है,

वैदिक सन्ध्या की विधियों का क्रम

ध्यान करने वाले ऋषियों को ध्यान की जिन २ भूमिकाओं में से गुज़रना पड़ता है वैसा संसार भर की अन्य प्रार्थनाओं में मिलना मुश्किल है। सबसे प्रथम गुरुमंत्र से शिखा बन्धन है। शिखा बन्धन का अभिप्राय शिर के अन्दर बिखरी हुई शक्तियों का बन्धन व एकत्रीकरण है। बिखरी हुई बाह्य शिखा को बन्धन में लाना अलंकारमात्र है। शिर में बिखरी शक्तियों का एकत्रीकरण संकल्प की दृढ़ता के लिये है। सन्ध्या कर्म में ढीलेढाले मन से नहीं, अपितु दृढ़ संकल्प के साथ प्रवृत्त होना चाहिये। इसी के संकेत रूप में सन्ध्या के आरम्भ में शिखाबन्धन की विधि है।

मुख्य सन्ध्या का आरम्भ 'शन्नोदेवीः' इस आचमन मंत्र द्वारा शान्ति की कामना से है। सन्ध्या में बैठे साधक को सब से प्रथम अपनी चंचल चित्तवृत्तियों को शान्त तथा समाहित करने की कोशिश करनी चाहिए। शीतल जल का आचमन शान्ति की प्रार्थना को जीवित रूप देने के लिये है।

चित्त के शान्त तथा समाहित होने पर 'अङ्ग स्पर्श' के मंत्रों से अपने अङ्गों का निरीक्षण है। परीक्षा यह करनी है कि कोई अङ्ग दुर्बल तथा दुरुपयोग से अपयश का भागी तो नहीं हो रहा।

इस आत्मनिरीक्षण के पीछे 'मार्जन मंत्रों' से परमात्मा के गुणवाचक विभिन्न नामों से प्रभु का चिन्तन करते हुए शरीर के विभिन्न अङ्गों में परमात्मा के विभिन्न गुणों को बसाने के द्वारा सम्पूर्ण अङ्गों की शुद्धि का विधान है।

पूर्ण मार्जन हुआ नहीं। विभिन्न अङ्गों म भगवान् के विभिन्न गुणों की जड़ जमी नहीं। तब प्राणायाम मंत्र से प्राणायाम द्वारा मन को शान्त तथा शक्तिपूर्ण बना कर फिर वही कोशिश है। यह तो कृत पापों के संस्कार की निवृत्ति का प्रयत्न हुआ।

अब अघमर्षण के मंत्रों से अनागत पापों की प्रवृत्ति के दलन का प्रयत्न है। इन मंत्रों में सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन द्वारा सब पापों की जड़ अभिमान तथा अपमान पर प्रहार द्वारा अनागत पापों का मर्षण हुआ है।

पाप के पूर्ण दलन के पश्चात् पवित्र मन से 'मनसा परिक्रमा' के मंत्रों से ६ व्रतों का धारण है। प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा, ऊर्ध्वा इत्यादि ६ दिशाएँ पुरुषार्थ, समृद्धि, वैराग्य, शान्ति, स्थिरता और उन्नति इत्यादि ६ संकल्पों अथवा व्रतों को बता रही हैं।

साधक ने प्रभु से मिलन में रुकावट डालने वाली विघ्न बाधाओं को दूर किया, भिन्न भिन्न दिशाओं में प्रगति

करता हुआ वह उपासना के योग्य हुआ है। आगे उपस्थान है। उपासक परमात्मा के निकट बैठा है। सम्पूर्ण जगत् को प्रभु से आपूर्ण अनुभव कर रहा है। अदर्शनीय के दर्शन पाकर कृतार्थ हो रहा है।

उपस्थान के पीछे 'गायत्री मन्त्र' द्वारा प्रभु के दिव्य तेज का धारण है। दिव्य तेज को धारण कर लेने पर बुद्धि को प्रभु से साक्षात् प्रेरणा मिलने लगती है।

अन्त में 'नमस्कार मन्त्र' द्वारा अपनी सम्पूर्ण उन्नति, समृद्धि, और सम्पत्तियों का प्रभु के चरणों में पूर्ण अर्पण है।

इस प्रकार शिखा बन्धन, आचमन, अंग स्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण, मनसा परिक्रमण, उपस्थान, गुरु मन्त्र जप, तथा नमस्कार इत्यादि विधियों का सन्ध्या में क्रमशः समावेश है।

इस भूतल पर पदार्पण किये मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक कृत्यों की यह कैसी सुसंगत तालिका है। पृथ्वी पर रींगते मनुष्य को परम पद तक पहुंचाने के लिए यह कैसी अपूर्व सीढ़ी है। संसार भर की प्रार्थनाएं पढ़ डालिये और कहीं यह बात नहीं मिल पायेगी।

इन विधियों की विस्तृत व्याख्या आगे होने वाली है।

सन्ध्या अथवा भगवद्
भजन के प्रयोजन

भगवान् की स्तुति व भजन इस लिए नहीं कि वह खुशामद पसन्द है, अथवा उसे हमारी स्तुति की ज़रूरत है, और इस लिये भी नहीं कि वह अपनी स्तुति से फूल कर हमारे पापों को माफ़ करेगा। न परमेश्वर खुशामद-पसन्द है, न उसे स्तुति की ज़रूरत है और न वह पापों को माफ़ करता है। फिर प्रश्न होता है परमेश्वर की स्तुति अथवा भजन का प्रयोजन क्या ?

मनुष्य शुभाशुभ जो कुछ कर्म करता हैं उसके संस्कार उसके अन्तःकरण पर अवश्य पड़ते हैं। अन्तःकरण के पट पर प्रतिक्षण इकट्ठे होते हुए यह संस्कार ही मनुष्य के स्वभाव का निर्माण करते हैं। पुण्य संस्कारों का परिणाम पुण्यस्वभाव है और पापी संस्कार का परिणाम पापी स्वभाव है। स्वभाव का परिवर्तन सहज नहीं, इसी कारण पापी स्वभाव हो जाने पर व्यक्ति न चाहते हुए भी पग पग पर पाप और प्रलोभनों से परास्त होता है। इन निरन्तर पराजयों से आत्मा मलीन तथा बल हीन और जीवन आशाहीन होता जाता है।

(क) कृत पापों के संस्कार की निवृत्ति

सन्ध्या सरोवर में जो जन नित्य प्रति स्नान करते हैं उनके पूर्व संचित पाप संस्कारों की धूलि धुल जाती है। स्वभाव

पापात्मा बन नहीं पाता। परिणामत:आत्मा निर्मल और बलयुक्त बना रहता है। मनुस्मृति में मनुमहाराज ने प्रात: सायं सन्ध्या का फल कृतपापसंस्कार रूपी मल की निवृत्ति ही लिखा है:—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृम्।

(मनु० २ १०२)

अर्थात्—"प्रात: की सन्ध्या से रात्रि भर के और सायंकाल की संध्या से दिन भर के कुसंस्कार रूपीमल नष्ट होते हैं।"

सन्ध्या में बैठा साधक आत्मनिरीक्षण द्वारा अपने अङ्ग अङ्ग के दोषों को खोजता है, पश्चात्ताप के आंसू बहा कर अपने हृदय को शुद्ध करता है तथा निर्मल, शान्त और तपोमय भगवान् के गुणों के चिन्तन से पाप रूपी मल का प्रक्षालन करता है।

(ख) अनागत पापों की प्रवृत्ति का दलन सन्ध्या अथवा भगवद्भजन का दूसरा प्रयोजन अनागत पापों के लिये उठने वाली प्रवृति का दलन है। परमेश्वर की स्तुति व गुण कीर्त्तन से आत्मा विनम्र होता है। उसकी महिमा के चिन्तन से तथा उसके चरणों में भक्ति भाव से अपना मस्तक झुकाने से अहंकार का नाश होता है। अहंकार

पापों की जड़ है। इसके उन्मूलन का प्रयत्न पाप की प्रवृत्ति का दलन है।

भगवान् के आगे रो लेने से जहां हृदय की शुद्धि हो जाती है वहां भविष्य के लिये धर्म भंग होने की सम्भावना भी कम हो जाती है। प्रबल पाप से मुक्त होना चाहते हुए मनुष्य ! भगवान् के निकट प्रार्थना कर जिससे कि वह तुझ में सच्चा अनुराग पैदा करे। सच्चे भक्त की तरह अपने भगवान् से तू कह "हे प्रभो ! मुझे आंसुओं का मार्जन दे, अधिक मात्रा में पवित्र जल दे कर मेरी प्यास बुझा।"

मनुष्य यह समझ कर पाप में प्रवृत्त होता है कि उस के पापों को कोई देख नहीं रहा। पाप करने से डर नहीं परन्तु जग में पापी कहलाने से उसे डर है। पाप से बचने की कोई चिन्ता नहीं, पाप के छिपाने की चिन्ता है। मनुष्य को यदि यह अनुभव हो जाय कि सर्वद्रष्टा की आंख[1] प्रत्येक स्थान में प्रत्येक क्षण में, उसके प्रत्येक कर्म को देख रही हैं तो वह पाप से वैसा ही डरेगा, जैसे वह पापी कहलाने से डरता है। पाप से बचने की वैसी ही चिन्ता करेगा जैसे पाप को छिपाने की उसे चिन्ता है। ऐसी अवस्था में पाप असम्भव हो जायगा। परन्तु यह अनुभूति होना ही कठिन है। कारण यह है कि परमात्मा इन भौतिक आंखों से दिखाई नहीं देता। उस

---

१ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्

अदृश्य के दर्शन और अनुभव के लिये निरंतर साधना और अभ्यास की आवश्यकता है।

सन्ध्या अथवा भगवद् भक्ति वह मुख्य सरोवर है जहां नित्य स्नान करने से, सांसारिक वायु के झोंकों से बेसुध हुए मनुष्य के अन्तःकरण में सर्वव्यापक प्रभु की स्मृति जागृत हो सकती है। सन्ध्या अथवा भगवद्भक्ति से ही प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा, ऊर्ध्वा इत्यादि सब दिशाओं में तथा द्युलोक पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्ष लोक[२] इत्यादि लोक लोकान्तरों में व्याप रहे विश्वात्मा की अनुभूति हृदय में निरन्तर स्थापित हो सकती है। इस अनुभूति के हृदय में स्थापित हो जाने पर न शैतान की फुसलाहट विचलित कर सकती है और न सैंकड़ों आक्रमणकारी फौजें ही व्यक्ति को परास्त कर सकती है।

(ग) शक्तियों की विशालता तथा विकास — (अघमर्षणी) पाप पर विजय और मनसापरिक्रमण के संकल्प की अग्नि के प्रज्वलित होने पर साधक अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये अपनी शक्तियों को सीमित तथा परिबद्ध समझता हुआ (उपस्थान) शक्ति के असीम समुद्र भगवान् से निकट सम्बन्ध स्थापित करता है। असीम के साथ सम्बन्ध स्थापित होने पर शक्तियां विकसित और महान् बनती हैं। पानी की एक

---

२ आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा·········।

नन्ही बूंद अपने आप में तुच्छ, अशक्त, सीमित, क्षणिक और अनुपयोगी है परन्तु यही नन्हीं बूंद जब विशाल समुद्र में गिर कर समुद्र के अनन्त जल के साथ अपने को मिला देती है तो समुद्र के स्वभाव, शक्ति, और विशालता के साथ एकता प्राप्त कर लेती है। समुद्र में मिली पानी की बूंद अशक्त नहीं, सीमित नहीं, तुच्छ नहीं, क्षणिक नहीं, अनुपयोगी नहीं। मनुष्य की शक्तियां पानी की नन्हीं बूँद की तरह ही तुच्छ, सीमित और किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये अनुपयोगी हैं। परन्तु भक्ति तथा उपासना द्वारा असीम और महान् प्रभु से निकट सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर मनुष्य की शक्तियों की योग्यता बढ़ जाती है तथा नई २ शक्तियों का उद्भव होता है। योगीराज श्री अरविन्द के आश्रम में रहने वाली एक फ्रेंच महिला ने जिन्हें 'माता जी' कहा जाता है Conversations With the Mother नामक पुस्तक में योग अथवा उपासना का प्रयोजन बताते हुए लिखा है:—

The spiritual life the life of Yoga, has for its object to grow into the divine consiousness and for its result to purify, intensify, glorify and perfect what is in you

अर्थात्—आध्यात्मिक जीवन, अथवा योग के अभ्यास का उद्देश्य दैवीय चैतन्यता जागृत करना है। दैवीय चेतनता के जागृत होने का परिणाम मनुष्य की शक्तियों का पवित्र, महान्, यशस्वी तथा पूर्ण होना है।"

महापुरुषों के जीवन पर दृष्टि डालकर देखिये। भगवान् कृष्ण, भगवान बुद्ध, महात्मा ईसा, भगवान दयानन्द इत्यादि जगद्वन्द्य पुरुष जिन्होंने अपने महान् कार्य्यों से मानव मस्तिष्क तथा हृदय पर सदा के लिये प्रभुत्व प्राप्त किया है शक्ति के स्रोत के समीप पहुंच कर ही अपरिमित शक्ति प्राप्त कर सके थे।

(घ) अदीनता व निर्भयता

सन्ध्या व भगवद्भक्ति का चौथा प्रयोजन[१] अदीनता व निर्भयता है। भगवान की उपासना में बैठे उपासक को सांसारिक पदार्थों में लालसा नहीं, शान्ति तथा आनन्द ही नहीं जिस २ वस्तु की उसे कामना है वह सब उसे प्रभु के समीप पहुंचने से मिल रही है। दीनता की छाया अब उसे क्यों स्पर्श कर पायगी? अनन्त और अक्षय स्रोत से सम्बन्ध हो जाने से भक्त के हृदय में आत्म-विश्वास और उत्साह की उमङ्गें उठ रही हैं। भगवान की रक्षा और कल्याण पर उसे अटल विश्वास है। सब घटनाओं को वह प्रभु द्वारा संचेष्टित समझ रहा है। आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर, नीचे सब दिशाओं में वह भगवान् को इषु (बाण) हाथ में लिये रक्षा के लिये खड़ा देख रहा है इसलिये विपत् में, संपत में, अनुकूलताओं में, प्रतिकूलताओं में, सब कालों में और सब अवस्थाओं में वह निर्भय और

१ अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

निरापद है। संसार की भयंकर से भयंकर वस्तु से भी निर्भय होता हुआ अपने आराध्य देव के स्तुति गान गाता हुआ मस्त हुआ फिरता है। उसे मालूम है कि जब तक उसके प्रभु की इच्छा नहीं तब तक सारा संसार भी उसे मार नहीं सकता। और प्रभु की इच्छा होने पर तो स्वयं मृत्यु भी कल्याणकर और जीवन के समान ही आनन्ददायक है। इस विश्वास के कारण वह जीवित ही अमर है, मृत्यु के भयंकर भय से भी अभय है। महर्षि-दयानन्द की निर्भयता का यही रहस्य था। जिसे सर्वत्र प्रभु का साम्राज्य नज़र आता हो वह गद्दियों और राज्यों के प्रलोभन से दीनता और पराधीनता क्यों स्वीकार करेगा ? जिसे परमात्मा के साहाय्य पर पूर्ण विश्वास है वह सत्य के लिये समूचे संसार के विरोध में अकेला खड़े होने से क्यों भय खायगा ? वह मृत्यु के बिस्तरे पर पड़ा है परन्तु मुंह पर मन्द मुस्कान अठखेलियां खेल रही हैं। प्राण लेने वाले को प्राणदान दे रहा है, वेद मन्त्रों की मधुर ध्वनि से दर्शकों के श्रोत्र पवित्र कर रहा है। 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' यह कहता हुआ भक्त भगवान की शान्तिमयी गोद में विश्राम पाने को लालायित हो रहा है। कैसा दिव्य दृश्य है। निर्भयता इसी का नाम है। मृत्यु पर पूर्ण विजय इसी को कहते हैं। यह निर्भयता और मृत्यु पर यह पूर्ण विजय भगवद्भक्ति के बिना असम्भव है।

(ङ) प्रभु-प्रेरणा प्रभु प्रेरणा का प्रवाह शाश्वतकाल से चल रहा है इस प्रेरणा को पाने के लिये अन्तःकरण पवित्र और आत्मा प्रकाशपूर्ण होना चाहिये। सन्ध्या अथवा भगवद्-भजन से अन्तःकरण पवित्र और आत्मा सविता देव के विशुद्ध प्रकाश से परिपूर्ण होता है। पवित्र अन्तःकरण और प्रकाशपूर्ण आत्मा के होने पर प्रत्येक कर्म के लिये बुद्धि को प्रभु से साक्षात् प्रेरणा मिलती है। प्रभु-प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्ति होने से ग्रन्थियां खुल जाती हैं, धर्म और अधर्म की उलझन मिट जाती है। और सब संशयों की समाप्ति हो जाती है। यह कैसी आनन्दमय स्थिति है।

सन्ध्या सुमन

"उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।"

(सामवेद १. १. ४)

हे अग्नि रूप परम देव ! हम प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा तुम्हें नमस्कार की भेंट चढ़ाते हुये तुम्हारे समीप आते हैं ।

आचमन मन्त्र

अम्बरीषस्य राज्ञ:पुत्र:सिन्धुद्वीप ऋषि:,आपो देवता, गायत्री छन्द:

ओं शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये

शंयोरभि स्रवन्तु नः।

(यजु० ३६. १२.)

(विधि–इस मंत्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे)

शब्दार्थ—

(देवीः) दिव्य गुणों से युक्त (आपः)[1] सर्वव्यापक और सब कामनाओं को पूर्ण करने वाला परमेश्वर (अभिष्टये) मनोवांछित (पीतये) तृप्ति अथवा पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिये (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) होवे, और (शंयोः[2]) सुख शान्ति चाहने वाले के (अभि) चारों ओर (शम् स्रवन्तु) शान्ति बरसावे (नः) हम सबके सब ओर शान्ति बरसावे।

[1] 'आपः' शब्द 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु से बना है। परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है इस लिए उसका नाम 'आपः' है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—सेदं सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च, यदाप्नोत्तस्मादापः। (शतपथ ६ १.१.९) 'आपः'शब्द चुरादिगण को 'आप्लृ लम्भने' धातु से भी सिद्ध हो सकता है। 'लम्भन' का अर्थ प्राप्त कराना है। परमात्मा सब कामनाओं को प्राप्त कराने वाला व पूर्ण कराने वाला है इस लिए भी उसका नाम आपः है।

[2] शंयोः'—शंयुः शब्द में शान्ति वाचक शम् शब्द से कामना अर्थ में युस् प्रत्यय है। एवं 'शंयु': का अर्थ हुआ 'शं कामयमानः'—अर्थात् शान्ति की कामना करने वाला व्यक्ति।

व्याख्या—

प्रत्येक कार्य्य का आरम्भ शान्ति से किया जाना चाहिए। बिना शान्त तथा समाहित चित्त से जो कार्य्य किया जाता है वह कभी सफल नहीं हो सकता। इस लिए सन्ध्यायज्ञ का आरम्भ भी 'शम्' शान्ति की कामना से होता है। भक्त

चाहता है। भक्त के हृदय में उस परमानन्दस्वरूप के अक्षय और अनन्त आनन्द के भण्डार के एक कण की अनुभूति की उत्कट अभिलाषा है। मन में अपने प्रिय से मिलन की कामना है। अपने मनोरथ, अभिलाषा और कामना को सफल बनाने के लिये भक्त सब से प्रथम प्राणिमात्र की असंख्यातों कामनाओं को पूर्ण करने वाले प्रभु से शान्ति की प्रार्थना करता है। यह शान्ति की कामना संध्या की प्रथम भूमिका है।

शान्ति न सुख[1] की अवस्था है न दुःख की अवस्था है। न मन के उछलने का नाम शान्ति है, न बैठने का नाम शान्ति है। न लहरों के उठने का नाम शान्ति है, न गिरने का नाम शान्ति है। शान्ति सुख दुःख दोनों से ऊपर की अवस्था हैं। शान्ति में न उल्लास हैं, न विषाद है। न आवेग है न उद्वेग

---

[1]सुख और आनन्द में भेद है। सुख Pleasure और आनन्द Bliss है। सुख, दुःख की तरह मन का एक विकार है। सुख में राग का अंश है, क्षोभ है। आनन्द पूर्ण सात्विक है। आनन्द में प्रसाद है, निर्मलता है। सुख को यदि सांसारिक कहें तो आनन्द को स्वर्गीय कह सकते हैं। आनन्द ही परम प्राप्तव्य है। परमानन्दस्वरूप परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करना ही तो जीवन का चरम उद्देश्य है। आत्मा में परमात्मा के पूर्ण आनन्द का अवतरण हो सके इसी लिए भक्त मन्त्र द्वारा शान्ति की कामना कर रहा है।

भगवान् की भक्ति में बैठा है। अपनी अनन्य और निष्काम भक्ति से वह अपने आराध्यदेव के हृदय को स्पर्श करता है वहां न शोक का प्रवेश है न हर्ष का। यह जल की उस शान्त अवस्था के समान है, जिसमें न लहरों का उतार-चढ़ाव है, न वेग है, न क्षोभ है, न चंचलता है। शान्त मन का प्रवाह निर्मल और शीतल जल के शान्त प्रवाह के तुल्य है। उसमें न सुख की अनुभूति है न दुःख की। ऐसा शान्त मन ही आध्यात्मिक चिन्तन और आराधन में लग सकेगा।

जब तक मन में संकल्प विकल्पों का जमघट लगा है, जब तक मन लोक लोकान्तरों की सुधि ले रहा है, जब तक मन में क्षोभ और हलचल मची है, अर्थात् जब तक मन विक्षिप्त और अशान्त है, तब तक भक्ति कैसी ! प्रभु दर्शन की आशा कैसी ! और आत्मा में आनन्द के अवतरण की अभिलाषा कैसी ! जब तक इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, चित्तवृत्तियां चंचल हैं, विकार और वासनाएं प्रबल हैं तब तक 'संध्या'-सम्यक् ध्यान सम्भव नहीं। चंचल मन ही तो प्रभु-पूजा में सब से बड़ी बाधा है। चंचल मन अपनी चंचलता से आत्मा को भी चंचल सा बना देता है। परिणामतः ज्योतिर्मय भगवान् का प्रकाश अन्तरात्मा में नहीं पड़ पाता। जिस प्रकार तरङ्ग मालाओं से विक्षुब्ध जल में किनारे पर खड़े वृक्षों का प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से नहीं पड़ता, ठीक उसी

प्रकार संकल्प विकल्पों की तरङ्गों से उद्वेलित एवं चचल मन की चंचलता से अशान्त आत्मा में समीपस्थ परमात्मा का स्वरूप भी स्पष्टरूप से नहीं भास पाता। ऐसी अवस्था में सन्ध्यां में बैठा सच्चा साधक भगवान् से शान्ति की कामना करता है, तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है। शान्ति की शीतल धाराओं में स्नान करने के लिये यदि वह उत्सुक हो उठता है और भगवान् से अपने चारों ओर सहस्र धाराओं में शान्ति की वर्षा करने के लिये प्रार्थना करता है, तो यह समुचित है, सुसंगत है। बेसुरे मन को मिला लेने पर ही तो आत्मा की वीणा में भगवान् की भक्ति का मधुर और सुन्दर सङ्गीत बज उठेगा।

आचमन क्यों?

इसी शान्ति की प्रार्थना को जीता जागता रूप देने के लिये 'शन्नो देवी:' मन्त्र से आचमन करने का विधान है। जल शान्ति और पवित्रता का प्रतिनिधि है। इस स्थूल जगत में शान्ति प्रदान करने के लिये यह एक अनूठा पदार्थ है। दो घूँट जल पी देखिए, इस सचाई का अनुभव हो सकेगा। बाह्य जगत् में शान्ति का सबसे सुलभ साधन होने से ही जल आचमन के लिये चुना गया है। शान्तिप्रद होने से शीतल जल का आचमन शान्ति की प्रार्थना को सजीव बनाने में परम सहायक है।

शतपथ ब्राह्मण का आरम्भ ही आचमन विधि की व्याख्या से होता है। आचमन क्यों किया जाता है, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि लिखते हैं—

तद् यदप उपस्पृशति तेन हि पूतिरन्ततः पवित्रं वा आपः।

(शत० १. १. १. १.)

अर्थात् "जो यह जल का आचमन किया जाता है उससे आन्तरिक पवित्रता होती है, क्योंकि जल पवित्र करने वाला है"

शीतल जल का आचमन राजसिक और तामसिक वृत्तियों का अभिभव करके सात्विक वृत्तियों को जागृत कर देता है। सात्विक वृत्तियों का जागरण ब्रह्म-प्राप्ति-प्रतिबंधक निखिल अन्तरायों† की निवृत्ति, तथा शान्ति की निराली अवस्था पैदा कर देता है। सन्ध्या समय में साधक को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक त्रिविध शान्ति

---

† अन्तराय:—"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः" (योगदर्शन १. ३०) व्याधि, भारीपन (काम करने को दिल न करना), संशय, असावधानता, सुस्ती, विषयों में तृष्णा, मिथ्या ज्ञान, समाधि तक न पहुंच सकना, अस्थिरता, ये चित्त के विक्षेप हैं और योग के मार्ग में विघ्न हैं।

चाहिए। इसीलिए तीन आचमन करने का विधान है। शीतल जल का आचमन शारीरिक तापों को मिटाकर शरीर को शान्त, शीतल तथा स्फूर्तिसम्पन्न बना देगा, मानसिक आवेगों और विकारों को मिटाकर मन को शान्त, पवित्र तथा अन्तर्मुख बना देगा तथा आत्मा की प्रतीत होने वाली चंचलता को मिटा कर आत्मा में चैतन्यता और प्रभु-परायण वृत्ति जगा देगा। तीन आचमन का तात्पर्य यही त्रिविध शान्ति है।

इस मंत्र में 'आपः' शब्द है जिसका प्रसिद्ध अर्थ जल होता है । साथ में ही 'पीतये' शब्द भी पढ़ा गया है । 'पीतये' शब्द का अर्थ है 'पीने के लिये'। इस प्रकार 'आपो भवन्तु पीतये' ये शब्द 'जल पीने के लिये हैं' इस अर्थ को स्पष्ट रूप से प्रकट कर रहे हैं। 'आपः' और 'पीतये' इन दो शब्दों के मंत्र में पढ़े जाने से ही मंत्र का आचमन में विनियोग हुआ प्रतीत होता है ।

कुछ विद्वान् इस मंत्र का आचमन में विनियोग देख कर मंत्र का अर्थ भी जल परक कर बैठे हैं। परन्तु इस आध्यात्मिक प्रकरण में मंत्र की जलपरक व्याख्या संगत प्रतीत नहीं होती। महर्षि ने संध्या का मुख्य प्रयोजन 'परब्रह्म का ध्यान' निश्चित किया है। ऐसी अवस्था में उचित यही प्रतीत होता है कि मंत्र का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टि से

किया जाय। मान्यवर श्री पं० बुद्धदेव जी ने इस विषय का सुन्दर विवेचन किया है आप लिखते हैं:—

"मर्मानभिज्ञ व्याख्याकारों ने इसका आचमन में विनियोग देख कर इसकी व्याख्या भी जलपरक ही कर दी है, किन्तु वे इस बात को भूल जाते हैं कि वेद ने स्वयं कहा है "ता आपः स प्रजापतिः" यजुर्वेद ३२. १.। 'आपः' नाम उसी प्रभु का है। वह शान्ति कामना करने वालों की कामनाओं का आपयिता—प्राप्त कराने वाला है। वह गुण जल में होने से जल को भी 'आपः' कहते हैं। अब अध्यात्म प्रकरण में इसका अर्थ जल करना कोरी मूर्खता है। हां, जिस शान्त गुण की कामना करनी है, वह जल में होने से विनियोग की सुन्दरता का पता चलता है। परन्तु वह तभी होता है जब मूल अर्थ को समझ कर विनियोग उसके पीछे चलाया जाय। जो विनियोग के पीछे मूल को चलाते हैं वे वस्त्र के पीछे शरीर को चलाते हैं। वे शरीर के स्थूल होने पर वस्त्र को ढीला नहीं करते, किन्तु वस्त्र तंग होने पर शरीर को छीलते हैं।"

शान्ति—कामना

विनय

हे सर्वव्यापक, हे दिव्य गुण सम्पन्न, हे सर्वान्तर्यामिन्! तुम अनन्त काल से अपने उपकारों की वर्षा किये

जाते हो। तुम्हारी उपकारों की वर्षा से प्राणीमात्र की असंख्यातों कामनाएं प्रतिक्षण पूर्ण हो रही हैं। हे प्रभो! तुम्हीं सच्चे 'आपयिता' कामनाओं के पूर्ण करने वाले हो। तुम अपने प्रसाद से और वात्सल्य की धाराओं से हमारे अन्त:करण को सिंचित करते हो, आप्लावित करते हो, अपनी अमृत रूपी वर्षा से हमें तृप्त व आनन्दित करते हो।

हे मेरे जीवन सार! सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाली तृप्ति व आनन्द आंशिक है, अस्थायी है, विनश्वर है। हे मेरे ईश्वर! जब तक तुम मेरे हृदय के सर्वस्व नहीं हो जाते तब तक मनोवांछित तृप्ति नहीं हो सकती, पूर्णानन्द की प्राप्ति संभवित नहीं। जब तुम मेरे अन्तर में प्रकट हो जाओगे, मेरा मानस आनन्द से उत्फुल्ल हो उठेगा। इस लिए हे मेरे सर्वस्व! सम्पूर्ण जगत् से मुझे अनासक्त होने दो, विषयों की कामनाएं विस्मृत होने दो, मेरे मानस को अपनी ओर आकर्षित होने दो।

हे आनन्द के अक्षय स्रोत! तुम्हें पाने की मेरी उत्कण्ठा सफल कैसे होगी, तुमसे मिलने का मनोरथ पूर्ण कैसे होगा, जबकि मेरी इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, चित्तवृत्तियां चंचल हैं, संस्कार अशोभन हैं और वासनाएँ आत्मा की शान्ति को विक्षुब्ध बनाए देती हैं। इस लिए हे परम शान्त! हे शान्ति के अक्षय भण्डार! शान्ति प्राप्त करने के लिए

मैं उत्सुक हो उठा हूं, अविचल शान्ति पाने के लिए मुंह उठाए हुए हूं।

हे शान्ति के दिव्य धाम! वर्षा करो, सहस्रों धाराओं में शान्ति की वर्षा करो। हे कामनाओं को पूर्ण करने वाले! मेरे चारों ओर शान्ति की दिव्य धाराएं प्रवाहित होने दो, मेरे मानस और रोम रोम में शान्ति समा जाने दो।

मेरी प्रबल आकांक्षा है, चिरकाल से तुम्हारी प्रतीक्षा है, शान्ति की दिव्य धाराओ! आओ, मेरी पिपासा बुझा जाओ, सात्विक वृत्ति जगा जाओ और आन्तरिक अशान्ति मिटा जाओ।

अङ्ग-स्पर्श मन्त्र

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः ।

ओं चक्षुः चक्षुः । ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम् ।

ओं नाभिः । ओं हृदयम् । ओं कण्ठः । ओं शिरः ।

ओं बाहुभ्याम् यशोबलम् । ओं करतलकरपृष्ठे ।

विधि— ईश्वरप्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करें । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रियां बलवान रहें ।

शब्दार्थ—

हे परमात्मन् ! (वाक् वाक्) मेरी वाणी (यशोबलम्) यश और बलयुक्त हो। हे परमात्मन् मेरा प्राण यश और बलयुक्त हो। हे परमात्मन् ! मेरी आंख, मेरे कान, मेरी नाभि, मेरा कण्ठ, मेरा सिर, मेरी दोनों भुजाएं तथा मेरी हथेली और हाथ की पीठ यह इन्द्रियाँ तथा अङ्ग यश- और बलयुक्त हों।

भावार्थ—मेरे सब अङ्ग बलवान् और यशस्वी हों।

व्याख्या—

आचमन मंत्र से चित्त को शान्त तथा समाहित करने की प्रार्थना का प्रयत्न किया गया। उपासना के लिये चित्त का शान्त होना परम आवश्यक है, परन्तु इन्द्रियों का सबल और सम्पूर्ण अङ्गों का शक्तिसम्पन्न होना भी कम आवश्यक नहीं। अस्वस्थ एवं निर्बल इन्द्रियों से उपासना सम्भव नहीं, इसलिये साधक शान्त तथा समाहित चित्त होकर सबसे प्रथम अङ्गस्पर्श के मन्त्रों से अपनी इन्द्रियों तथा अन्य अङ्गों की शक्ति को जागृत करता है।

वैदिक धर्म की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह शरीर को तुच्छ बताकर तिरस्कार नहीं करता। आर्य्य धर्म के अनुसार शरीर को अधम समझना भगवान् की अपूर्व देन का अपमान है। यह सही है कि शरीर व शारीरिक उन्नति स्वयं कोई साध्य नहीं, यह तो साधन है। "शरीरमाद्यं

खलु धर्मसाधनम्" शरीर धर्म का साधन है। शारीरिक उन्नति आध्यात्मिक उन्नति की सबसे प्रथम सीढ़ी है।

इस भगवद् भजन के लिए शरीर मिला है। वाक्, प्राण, चक्षु श्रोत्रादि सब देव हैं, जिनके द्वारा देवाधिदेव का पूजन होता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने देवों को वाक् प्राण इत्यादि सब अङ्गों को–'यशोबलम्' यश और बलयुक्त बनावे जिससे भगवान् का सच्चा यजन, पूजन और आराधन हो सके। अङ्ग-स्पर्श के मन्त्र का यही प्रयोजन है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्य:" (मुण्डकोपनिषद् ३.२.४१) अर्थात् बलहीन व्यक्ति आत्मा को पहचान नहीं सकता, परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।" सब दरवाजों को बन्द कर मन्दिर के एकान्त और अन्धेरे कोने मे बैठ कर माला फेरने का नाम तो भगवान् का भजन नहीं है। प्राणिमात्र का हित साधन प्रभु का सच्चा यजन और पूजन है। नर की सेवा नारायण की सेवा है। New Testament में ठीक ही लिखा है:—

Then shall the king say unto them on his right hand, Come ye, blessed of my father, inherit the kingdom prepared for you from the foundation of the world.

For I was hungred, and ye gave me meat; I was thirsty, and ye gave me drink; I was a stranger, and ye took me in.

Naked, and ye clothed me; I was sick, and ye visited me: I was in prison, and ye came unto me.

Then shall the righteous answer him saying, Lord, when saw we thee hungred, and fed thee ? or thirsty, and gave thee drink ?

When saw we thee a stranger, and took thee in or naked and clothed thee ?

Or when saw we thee sick, or in prison, and came unto thee ?

And the king shall answer and say unto them, verily I Say unto you, in as much as ye have done it unto one of the least of these my brotheren ye have done it unto me. Mat. 25/34-40

अर्थात्— "तब राजा (महात्मा ईसा) अपनी दाहिनी ओर वालों से कहेगा, हे मेरे धन्य पुत्रो ! आओ, इस स्वर्ग के साम्राज्य के अधिकारी होओ, जो संसार के आदि से तुम्हारे लिये तैयार किया गया है।

क्योंकि मैं भूखा था तुमने खाने को दिया, मैं प्यासा था तुमने पीने को दिया, मैं परदेशी था तुमने मुझे अपने घर में आश्रय दिया। मैं नग्न था तुमने मुझे कपड़े पहिनाये, मैं बीमार था, तुमने मेरी पूछताछ की, मैं जेलखाने में था, तब तुम मेरे पास आये।

तब धर्मात्मा लोग उसे उत्तर देंगे कि हे प्रभु! हमने तुझे कब भूखा देखा खाने को दिया; प्यासा देखा और पीने को दिया, और परदेशी देखा और आश्रय दिया इत्यादि—

तब राजा उन्हें उत्तर देगा, "मैं तुम से सत्य कहता हूँ कि तुमने कुछ मेरे इन छोटे से छोटे भाइयों में से एक व्यक्ति के लिए किया वह मेरे लिये भी किया"

कहनेका तात्पर्य यह है कि जितनी हम मनुष्यों की सेवा करते हैं, जितना मनुष्य की पीड़ाओं और दुःख दर्द को मिटाने के लिये प्रयत्न करते हैं, उतना ही हम प्रभु का पूजन और आराधन करते हैं। जो प्राणिमात्र की सेवा में अपने आप को खो देता है, भगवान् उसे उत्तम अमरपद में पहुंचा देते हैं। जो प्राणिमात्र के कल्याण में लगा है उसे एक एक प्राणी में अपना सा आत्मा दिखाई देता है, सब भूतों में व्याप्त एक विश्वात्मा का अनुभव होने लगता है। यही आत्मा का

साक्षात्कार है। यही अमरता की अनुभूति है और यही अमरपद की प्राप्ति है।

जो बलहीन है वह तो अपने जीवनयापन में भी असमर्थ है, वह भगवान् का भजन अथवा 'यजिष्ठं मानुषे जने' (ऋग्वेद. ५. १४. २) प्रत्येक मानुषजन में स्थित यजनीय देव का यजन व पूजन क्या कर सकेगा ?

बल का उपयोग भी हो सकता है, दुरुपयोग भी हो सकता हैं। सदुपयोग से देवयजन होता है, दुरुपयोग से असुर का वर्धन व यजन होता है। बल का सदुपयोग यश का कारण है, दुरुपयोग अपयश का कारण है।

उदाहरणार्थ— एक क्षत्रिय जो क्षतों के त्राण के लिये, पीड़ितों की रक्षा के लिये अपने बाहुबल का उपयोग करता है वह देवयजन करता है, यदि वह अपने देश, जाति व धर्म के लिये प्राणों तक का बलिदान भी कर देता है तो वह अमरयश प्राप्त कर लेता है। मरते मरते मौत को मार जाता है और अमर जीवन प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत एक डाकू, जो पर-सम्पत्ति-हरण में अपने बल का उपयोग करता है, वह असुर का वर्धन, यजन और पूजन करता है। अनुपम वीरता दिखाता हुआ भी वह अपयश को प्राप्त होता है। कृष्ण बलवान् था कंस भी बलवान् था। कृष्ण ने अन्याय और अत्याचार को उखाड़ फैंकने में बल का उपयोग

किया– देवयजन किया– परिणामतः समूचा संसार भगवान् कृष्ण के चरणों में श्रद्धा और भक्ति से अपना मस्तक झुकाये हुए है। इसके विपरीत कंस ने अन्याय और अत्याचार को बढ़ाने में, अपने बल का प्रयोग किया,– असुर का वर्धन व यजन किया– परिणामतः दुनिया कंस को धिक्कारती है तथा हिकारत की नजर से देखती है।

तात्पर्य यह है कि बल के सदुपयोग से व्यक्ति यशस्वी बनता है, दुरुपयोग से अपयश का भागी होता है। अपने शरीर को– उसके एक एक अङ्ग को– बलवान बनाना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसके सदुपयोग से उन्हें यशस्वी भी बनाना चाहिए। प्राणिमात्र की पीड़ा मिटाने में, हित साधन में और देवभाव के वर्धन में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों और सामर्थ्य का उपयोग करके अपने अङ्गों को सच्चा देवता बनाना भी हमारा कर्तव्य है।

अङ्गस्पर्श के मंत्र से प्रातः सायं अपने अङ्गों की परीक्षा करनी चाहिए, आत्मनिरीक्षण करना चाहिये और देखना चाहिए कि हमारा कोई अङ्ग निर्बल होकर अथवा अपयश का भागी होकर देवत्व से पतित तो नहीं होता। सच्चे देवत्व को प्राप्त हुए हुए हमारे अङ्ग, चित्त की स्थिरता-सम्पादन में, आध्यात्मिक चिन्तन में और देवाधिदेव के आराधन में सहायक सिद्ध हो सकेंगे।

बल-भिक्षा

विनय

हे सर्वशक्तिमान् ! हे बलस्वरूप ! हे सब बलों के स्वामिन् ! यह विशाल ब्रह्माण्ड तुम्हारे बल शक्ति तथा सामर्थ्य का परिचय दे रहा है। तुम अपने असीम और अनन्त बल से इस विस्तृत जगत् की रचना करते हो। यह दिग्दिगन्त तक फैला हुआ विस्तृत समुद्र और यह ऊचे खड़े विशाल गगन चुम्बी पर्वत तुम्हारी ही महिमा के द्योतक हैं।

हे महाबली ! हम तेरे द्वार पर भिक्षा के लिये उपस्थित हैं। हे बल के भण्डार ! हमें बल की भिक्षा दो। मेरी वाणी में बल हो, प्राण में बल हो, भुजा में बल हो, मेरे एक एक अङ्ग में तेरे सम्पर्क से बल का संचार हो जाय।

हे अनन्तबल के स्वामिन् ! बल हीन होते हुए मैं हित नहीं साध सकता, अमर आत्मा को नहीं पा सकता, और तेरी सच्ची आराधना नहीं कर सकता, इस लिये बल दो, जिससे मैं आत्मा का साक्षात्कार कर सकूं और तेरी सच्ची उपासना कर सकूं।

हे समर्थ ! हे परम दृढ़ ! मुझे दृढ़ बनाओ अडिग बनाओ जिससे मैं उद्धत और अभिमानी शक्ति के सामने कभी अपने घुटने न टेकूं। हे सर्वशक्तिसम्पन्न ! मेरे हृदय में बल

दे, जिस से कि अन्याय और अत्याचार के विरोध में अपनी आवाज़ उठा सकूं।

हे परम महान् ! मेरी स्वार्थ तथा तुच्छता की भावना पर प्रहार कर, कठोर आघात कर जिस से स्वार्थ और तुच्छता वश मैं कभी अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करूं, अपने अङ्गों को अपयश के मार्ग में प्रवृत्त न करूं।

हे प्रभो ! मैं अपनी सब शक्तियों का सदुपयोग ही करता रहूं। प्राणिमात्र की सेवा में, हित साधन में और देव-भाव के वर्धन में अपने सम्पूर्ण बल और सामर्थ्य का उपयोग करूं, जिससे मेरे सब अङ्ग देवत्व को और अमर यश को प्राप्त होवें।

हे प्रभो ! अन्त में तुमसे यही प्रार्थना है कि मुझे बल दो, जिससे तुम्हारी कृपा से प्राप्त की हुई अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का तुम्हारे चरणों में प्रेम से समर्पण कर सकूं। अपने प्रत्येक अङ्ग को जीवन पर्यन्त तुम्हारी परिचर्य्या में, पूजा में और आराधना में अर्पित कर सकूं।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

मार्जन मन्त्र

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ।

ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये ।

ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः ।

ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ।

विधि—इस मंत्र से "मध्यमा और अनामिका अंगुली से नेत्रादि अङ्गों पर जल छिटकें ।"

शब्दार्थ—

(भूः) सत् स्वरूप प्रभु (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे (भुवः) चित् स्वरूप प्रभु (नेत्रयोः) नेत्रों में [ज्ञानेन्द्रियों—में] (पुनातु) पवित्रता करे (स्वः) सुख स्वरूप प्रभु (कण्ठे) कण्ठ में (पुनातु) पवित्रता करे (महः) महान् प्रभु (हृदये) हृदय में पवित्रता करे। (जनः) उत्पन्न करने वाला प्रभु (नाभ्यां) नाभि में [जनन शक्ति के केन्द्र में] (पुनातु) पवित्रता करे (तपः) तपस्वी प्रभु (पादयोः) पैरों में (पुनातु) पवित्रता करे (सत्यं) सत्य स्वरूप प्रभु (पुनः) फिर (शिरसि) सिर में (पुनातु) पवित्रता करे (खं) आकाश की तरह व्यापक (ब्रह्म) महान् प्रभु (सर्वत्र) सब अङ्गों में (पुनातु) पवित्रता करे।

व्याख्या—

अङ्ग स्पर्श के मन्त्र से अङ्गों की परीक्षा व निरीक्षण हो गया। निरीक्षण से जिस जिस अङ्ग में जो जो दोष नज़र आये उनका अब मार्जन आवश्यक है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति करना चाहता है उसके लिए अपने अङ्गों का प्रतिदिन निरीक्षण तथा मार्जन अत्यन्त आवश्यक है।

मार्जन का अर्थ है मांजना, साफ़ करना, शुद्ध करना व पवित्र करना। यदि गृह का मार्जन न किया जाय तो वह मैला हो जाता है। यदि बर्तनों का मार्जन न करें तो वे गन्दे हो जाते हैं। यदि वस्त्रों का मार्जन न करें तो वे मलिन और पहनने के अयोग्य हो जाते हैं। इसी प्रकार

यदि अपने शरीर के अङ्गों का मार्जन न करें तो वे दोषों की कालिमा से कलुषित तथा अपवित्र हो जाते हैं।

यदि प्राकृतिक पदार्थ मैले हो जायं तो उनका मार्जन दूसरे शोधक पदार्थों से होता है। गृह को झाड़ कर तथा लीप पोत कर, बर्तन को मिट्टी से मांज कर, वस्त्र को साबुन लगा कर तथा शरीर को जल से स्नान करके साफ़ किया जाता है। प्रश्न होता है कि अपने अङ्गों के दोषों का मार्जन कैसे किया जाय ? अङ्गों की बाह्यशुद्धि, पवित्रता व मार्जन तो शरीर के समान जल से ही होती है मनु महाराज लिखते है—

"अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति"

(मनुस्मृति ५. १०. ९)

अर्थात्—"शरीर के अङ्गों की बाह्य शुद्धि जल से होती है। परन्तु इस अध्यात्म प्रसङ्ग में—सन्ध्या के प्रकरण में—बाह्यशुद्धि ही अपेक्षित नहीं, अपितु आन्तरिक शुद्धि ही यहां मुख्यरूप से अपेक्षित है। फिर प्रश्न उठता है कि सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर इत्यादि अङ्गों की आन्तरिक पवित्रता कैसे होती है ? महर्षि दयानन्द 'सन्ध्योपासनादि पंचमहायज्ञ विधि' में इस प्रश्न का समुचित उत्तर देते हैं:—

"इतीश्वर नामभिर्मार्जनं कुर्यात्"

अर्थात्–"भूः, भुवः, महः स्वः इत्यादि मंत्रोक्त सब परमेश्वर के ही नाम हैं। इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए मार्जन करें"। परमात्मा के भूः, भुवः, स्वः इत्यादि नामों के अर्थों के स्मरण से सिर, नेत्र, कण्ठ इत्यादि अङ्गों का मार्जन कैसे होता है इस को स्पष्ट करने के लिये परमेश्वर के मंत्रोक्त नामों का तद् तद् अङ्ग के साथ सम्बन्ध दिखाना आवश्यक है। मार्जन की विधि के ठीक बोध के लिये निम्न कोष्ठक पर ध्यान देना चाहिए।

सप्तव्याहृति	अर्थ	अङ्ग
भूः	अस्तित्व, सत्	शिरसि
भुवः	ज्ञान, चित्	नेत्रयोः
स्वः	आनन्द	कण्ठे
महः	महानता	हृदये
जनः	जनन शक्ति	नाभ्याम्
तपः	तप	पादयोः
सत्यम्	सत्य	शिरसि

हमारे समग्र जीवन चक्र का संचालन करने वाला सिर है। सम्पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक क्रिया का आरम्भ सिर से ही है। इसलिये मार्जन, शुद्धि व पवित्रता का प्रारंभ भी सिर की पवित्रता की प्रार्थना से करते हैं:—

"ओं भूः पुनातु शिरसि"

सत् स्वरूप परमेश्वर सिर में पवित्रता करे। सिर में मस्तिष्क है और यह विचार का स्थान है। ज्ञान विज्ञान का दीपक इसी मन्दिर में जलता है। वेदों में सिर को ज्ञान का आश्रय माना है।" शिरो देवकोशः (अथर्व १०.२.२७) सिर देवों अर्थात् इन्द्रियों का कोश है। इन्द्रियां अपनी ज्ञान-सम्पत् को सिर में इकट्ठा करती हैं। इस प्रकार सिर ज्ञान का खज़ाना है यह स्पष्ट है।

सिर की पवित्रता के लिये परमात्मा के भूः नाम का चिन्तन, जपन और मनन करना है। भूः शब्द "भू सत्तायाम्" धातु से बना है। परमात्मा सत् है। त्रिकाला-बाधित है, तीनों काल में उसका अस्तित्व (existence) कायम रहता है इसलिये उसका नाम भूः है।

परमात्मा का भूः नाम का स्मरण सिर की पवित्रता करे इससे संकेत यह मिलता है कि सत्ता से, ज्ञान की उपस्थिति व अस्तित्व से सिर की पवित्रता होती है। ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु नहीं। कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं:—'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (गीता ४.३८) ज्ञान में पवित्रता का गुण होने के कारण ही जैसे जैसे सिर में ज्ञान का भण्डार भरता जाता है, ज्ञान धारा का

अविच्छिन्न प्रवाह जैसे जैसे प्रवाहित होता रहता है, वैसे वैसे सिर पवित्र होता रहता है।

ज्ञान की सत्ता व अस्तित्व से सिर का मार्जन होता है इसलिये सिर की पवित्रता की प्रार्थना करते हुए प्रभु को 'भूः' अर्थात् सत्स्वरूप नाम से याद किया जाता है।

ज्ञान के निधान सिर की पवित्रता की प्रार्थना की जा चुकी। अब सिर के अन्दर इस ज्ञान भण्डार को भरने वाली ज्ञानेन्द्रियों की बात उठी तो कहते हैं—

"ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः"

चित्स्वरूप परमात्मा मेरे नेत्रों में पवित्रता करे। नेत्र ज्ञानेन्द्रियों में सबसे मुख्य हैं। इनका विषय क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत है। जितना ज्ञान हमें नेत्रों से प्राप्त होता है उतना ज्ञान किसी इन्द्रिय से प्राप्त नहीं होता इसीलिए ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र श्रेष्ठ तथा प्रधान हैं। नेत्र की इसी प्रधानता के कारण सब ज्ञानेन्द्रियों का पृथक् पृथक् निर्देश न करके केवल नेत्र का ही यहां नाम लिया गया है। इस प्रकार नेत्र यहां अन्य सब ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षक है। तात्पर्य यह कि नेत्र शब्द से यहां सारी ज्ञानेन्द्रियों को लेना चाहिए।

ज्ञानेन्द्रियों के मार्जन के लिये परमात्मा के 'भुवः' नाम का चिन्तन करना है। 'भुवः' शब्द "भुवोऽवकल्कने"

धातु से बना है। अवकल्कन' का अर्थ विचार या चिन्तन होता है। परमात्मा विचारशील है, चिन्तनशील, है चितूस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, इसलिये उसका नाम 'भुवः' है। परमात्मा का 'भुवः' नाम का स्मरण ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता करे इससे संकेत यह मिलता है कि ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता ज्ञान से होती है। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान की कथायें कहती रहें, निशिदिन ज्ञान के संचय में लगी रहें, अपनी ज्ञान की धाराओं से ज्ञान के निधान सिर को भरती रहें, यही ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता है।

ज्ञान के अस्तित्व तथा ज्ञान के सञ्चय की कथा कही जा चुकी। अब इस सञ्चित ज्ञान के दान करने अथवा प्रकाशित करने की बात उठी तो कहते हैं:—

"ओं स्वः पुनातु कण्ठ"

'सुख स्वरूप परमात्मा कण्ठ में पवित्रता करे। कण्ठ शब्द से यहां कण्ठ से निकलने वाली वाणी का ग्रहण है। वाणी की पवित्रता के लिये परमात्मा के 'स्वः' नाम का चिन्तन करना है। 'स्वः' का अर्थ है सुख। परमात्मा सुखस्वरूप है इस लिये उसका नाम 'स्वः' है। परमात्मा का 'स्वः' नाम का स्मरण वाणी की पवित्रता करे, इससे यह सूचना मिलती है कि वाणी सुखस्वरूप होती है। इस विषय में महात्मा तुलसीदास जी रामायण में लिखते हैं:—

तुलसी मीठे बचन तें, सुख उपजत चहुं ओर
वशीकरण इक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर,

वेद में कहा है:—"वाचा वदामि मधुमत्"(अथर्व १ ३४. ३) अर्थात्–'मैं वाणी से शहद के समान मीठा बोलूं'। वाणी को मधुमय तथा सुख उपजाने वाली बनाने से वाणी का मार्जन होता है, इस लिये यहां परमात्मा को 'स्वः' अर्थात् सुख स्वरूप नाम से स्मरण किया गया है।

प्रश्न उठता है कि वाणी को मधुमय, हितकर और सुखरूप बनाने का साधन क्या है ? इस प्रश्न का प्रसंग-वश उत्तर देते हुए अगली प्रार्थना है:—

'ओंमहः पुनातु हृदये"

'महान् प्रभु हृदय को पवित्र करे'। 'महः' का अर्थ है महान्।......परमात्मा सब से महान् है इस लिये उसका नाम 'महः' है। परमात्मा का 'महः' नाम का स्मरण हृदय की पवित्रता करे इससे संकेत यह मिलता है कि हृदय की पवित्रता हृदय को महान् बनाने से होती है। जिस हृदय में महानता, विशालता व उदारता का पूर्ण विकास हो गया है.वह पवित्र है, प्रशंसनीय है तथा संसार के लिये पूजनीय है। महानता से परिपूर्ण हृदय में स्वार्थ तथा रागद्वेष की मलिन भावनाएं प्रवेश नहीं कर पातीं। मेरे तेरे की अपने पराये की क्षुद्र और तुच्छ भावनाएं महान् हृदय को कलुषित नहीं करतीं।

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।

अर्थात्—"यह अपना है, वह पराया है इस प्रकार की गणना क्षुद्र और संकुचित हृदय वालों की है। महापुरुष जिसका हृदय महान् होता है-का सारा संसार परिवार होता है।

महान् हृदय के धनी महापुरुष विश्वप्रेम तथा सर्व-भूत-मैत्री का स्वप्न लेते हैं, उनके महानता से परिपूर्ण हृदय में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम का समुद्र उमड़ रहा होता है। प्राणी प्राणी में वे भगवान् की विभूति का दर्शन करते हैं। जगत कल्याण के लिये वे सर्वस्व का स्वाहा करने को उद्यत होते हैं। जहां महानता है, जहां प्रेम का समुद्र उमड़ता है, जहां जगत्कल्याण की भावना है, जहां पवित्रता है, पूर्ण पवित्रता का साम्राज्य है वही विश्व की पूजा का पात्र है।

महान् और विशाल हृदय होने पर ही कल्याण की भावना उपजती है और कल्याण की भावना होने पर ही कण्ठ से जो वाणी निकलती है वह मधुमय होती है, हितकर होती है और सुखरूप होती है।

अब प्रश्न उठता है कि हृदय महान् व उदार कैसे हो? संकेत रूप में इसका उत्तर अगले वाक्य में देते हैं:—

"ओं जनः पुनातु नाभ्याम्"

सबका जनयिता, जन्म देने वाला परमात्मा नाभि में पवित्रता करे। नाभि का सम्बन्ध जीवन शक्ति के केन्द्र सुषुम्नादण्ड से है जो कि इस नाभि के ठीक पीछे है। नाभि क्योंकि इस जनन शक्ति के केन्द्र के ठीक सामने है अतएव नाभि शब्द से इस जनन शक्ति की सूचना दी गई प्रतीत होती है।

परमात्मा सब संसार को उत्पन्न करने वाला है "जनयिता दिवो जनयिता पृथिव्याः" (ऋग्वेद ५. ३६. ४) सब संसार का जनयिता होने से परमात्मा का नाम 'जनः' है। जनः नाम का स्मरण नाभि की पवित्रता करे इससे संकेत यह मिलता है कि नाभि-जननशक्ति के केन्द्र—की पवित्रता जननशक्ति के संरक्षण से होती है। दूसरे शब्दों में वीर्य के संरक्षण अथवा ब्रह्मचर्य से नाभि की पवित्रता होती है।

वीर्य-रक्षा अथवा ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य का मूलमन्त्र है। वीर्यरक्षा से मन में आल्हाद तथा शरीर में एक अजीबोग़रीब मस्ती छा जाती है। यह आल्हाद यह खुमारी और यह सुन्दर स्वास्थ्य हृदय के विस्तार तथा विकास में सहायक है। हृदय के विस्तार तथा विकास में हृदय की विशालता है।

अब प्रश्न उठता है कि नाभि-जननशक्ति-की रक्षा कैसे हो सकती है। संकेतमात्र में इसका उत्तर अगले वाक्य में है:—

"ओं तपः पुनातु पादयोः"

'तप रूप परमात्मा पैरों की पवित्रता करे। परमात्मा परम तपस्वी है। बिना एक क्षण के भी विश्राम किये सृष्टि के संचालन के महान् कार्य का बोझ उठाये हुए है। अतः उसका नाम 'तपः' है। परमात्मा के तपः नाम का स्मरण पैरों की पवित्रता करे इससे यह सूचना मिलती है कि पैरों की पवित्रता तप से होती है। जीवन-यात्रा में पैरों को पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ता है, तपस्या का बड़ा भाग पैरों के हिस्से में ही आया है। अपने आप ठोकरें खाते हैं परन्तु सारे शरीर का बोझ उठाये फिरते हैं। अपने किसी स्वार्थ के न होते हुए भी पैर यह तपस्या कर रहे हैं इसलिये पैर परम तपस्वी हैं। पैरों की पवित्रता तपस्या में ही है। यदि पैर अपनी तपस्या छोड़ दें तो न केवल पैर परन्तु पैरों की नींव पर खड़ा यह समूचा शरीररूपी भवन ढह जावेगा।

पैरों तथा अन्य अङ्गों का व्यायाम, जीवन शक्ति के संरक्षण में कुछ अंश में अवश्य सहायक है। व्यायाम से वीर्य शरीर की पुष्टि में ही व्यय होकर उसे दृढ़ तथा बलिष्ठ बना देता है।

सब इन्द्रियों में शक्ति का संचय हुआ। सब अङ्गों का मार्जन हुआ। सब अङ्ग पुष्ट होकर अपना अपना कार्य्य करने लगे, परन्तु यह सब बना बनाया खेल बिगड़ सकता है यदि सिर में अपवित्रता आ जाय। सिर समग्र जीवन चक्र का संचालन करता है। इसकी पवित्रता पर ही सब अङ्गों की पवित्रता निर्भर है। मनुष्य के जैसे विचार ख़यालात और संकल्प होते हैं मनुष्य वैसा ही बन जाता है। "As a man thinketh so is he" यदि विचार और संकल्प पवित्र हैं तो सब अङ्गों में पवित्रता का संचार होता रहेगा। सिर की उस प्रधानता के कारण सिर की पवित्रता के लिये पुनः प्रार्थना करते हैं–

"ओं सत्यं पुनातु पुनः शिरसि"

'सत्यशील प्रभु सिर में फिर पवित्रता करे।' पहले भूः सत्स्वरूप प्रभु से सिर की पवित्रता की प्रार्थना थी अब 'सत्यं' सत्यशील प्रभु से सिर की पवित्रता की प्रार्थना की गई है। पुनः प्रार्थना का तात्पर्य यह है कि सिर की पवित्रता के लिए सिर में विद्यमान ज्ञान का भण्डार सत्य भी होना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि ज्ञान तो सत्य व यथार्थ ज्ञान का ही नाम है। जो ज्ञान सत्य व यथार्थ नहीं, वह तो ज्ञान नहीं, अज्ञान है वा मिथ्याज्ञान है। यह ठीक है परन्तु प्रथम प्रार्थना में जो बात अस्पष्ट (implicit)

रूप में थी उसे सत्यशील प्रभु से सिर की पवित्रता की *पुनः प्रार्थना से स्पष्ट (explicit) रूप में कह दिया गया* है। सत्यज्ञान के अस्तित्व से सिर का मार्जन व पवित्रता होती है।

अन्त में साधक, जिसे सर्वाङ्गीण पवित्रता की कामना है, जो चाहता है कि उसके अङ्ग अङ्ग में पवित्रता समा जाय, यह प्रार्थना करता है:—

"ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र"

'सर्व व्यापक परमात्मा सर्वत्र पवित्रता करे।' 'खं' का अर्थ आकाश है। आकाश व्यापक है। परमात्मा आकाश की तरह सर्वव्यापक है इस लिए उसका नाम 'खं' है। परमात्मा का 'खं' नाम का स्मरण सब अंगों की पवित्रता करे इससे संकेत यह मिलता है कि सब अङ्गों की सामान्य पवित्रता उन्हें व्यापक तथा विशाल बनाने से होती है। संकोच व क्षुद्रता दोषों की खान है। व्यापकता पवित्रता की जननी है। एक सफ़ेद चादर पर स्याही का धब्बा पड़ा है। कैसा काला कलूटा तथा भद्दा प्रतीत होता है। धब्बे का विस्तार कीजिये, उसे व्यापक बनाना शुरु कीजिये, सारी चादर पर उसी धब्बे को फैलाने की कोशिश कीजिये। ज्यों ज्यों धब्बा व्यापक बनता जावेगा, त्यों त्यों काला कलूटापन

मिटता जावेगा । ठीक इसी प्रकार ज्यों ज्यों हमारे अङ्ग व्यापक बनते जावेंगे, ज्यों ज्यों यह व्यापकदेव के साथ समस्वर होंगे और ज्यों ज्यों जगत् कल्याण के लिए इनका उपयोग होगा, त्यों त्यों दोषों की कालिमा मिटती जायगी तथा पवित्रता समाती जायगी। व्यापकता के आलोक में कलुष भावना का अन्धकार कैसे ठहर सकता है।

प्राणायाम मन्त्र

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः ।
ओं जनः । ओं तपः । ओं सत्यम् ।

शब्दार्थ—भूः, भुवः, स्वः आदि सब परमात्मा के नाम हैं। इनके अर्थ मार्जन मन्त्र के अर्थ में दिये जा चुके हैं।

व्याख्या—

मार्जन मन्त्र से अङ्गों का मार्जन हो चुका। परम पवित्र प्रभु की पूजा के लिये अङ्गों का पवित्र होना परम आवश्यक है। जब तक अङ्ग अङ्ग में पवित्रता समा नहीं जाती, तब तक त्रिभुवनपावन प्रभु की पवित्र आनन्द रस की धाराएं अन्तःकरण में प्रवाहित नहीं होतीं। इन सात्विक धाराओं के अन्तःकरण में प्रवाहित होने से जो आह्लाद होता है वह अनिर्वचनीय है, एकमात्र अनुभव का विषय है। इस पवित्र आनन्द रस की प्राप्ति तथा अनिर्वचनीय आह्लाद की अनुभूति के लिये प्रथम अङ्गों का पूर्ण मार्जन होना चाहिए।

प्राणायाम मार्जन की परिपूर्णता के लिये है। मार्जन मंत्रों में परमात्मा के भूः, भुवः, स्वः इत्यादि गुणवाचक नामों से प्रभु का चिन्तन करते हुए शरीर के विभिन्न अङ्गों की पवित्रता का विधान किया गया है। प्राणायाम के मन्त्र में भी परमात्मा के इन्हीं भूः; भुवः, स्वः इत्यादि गुणवाचक नामों का चिन्तन करना है। मार्जन स्थान भी वही हैं। भेद केवल इतना है कि प्राणायाम मंत्र का जप तथा अर्थ का चिन्तन करते हुए साथ में प्राणायाम भी करना है।

अब प्रश्न उठता है कि प्राणायाम से क्या विशेषता उत्पन्न हो जाती है? प्राणायाम से इन्द्रियां अन्तर्मुख होती

हैं, चित्तवृत्तियों की चंचलता मन्द पड़ती है और मन में स्थिरता व एकाग्रता उत्पन्न होती है। स्थिर व एकाग्र मन को जिधर चाहें दृढ़ता से लगाया जा सकता है, जो आज्ञा दी जाय बिना किसी ननुनच के हाथ जोड़ कर उसे वह पूर्ण करता है। महर्षि पतञ्जलि योगशास्त्र में लिखते हैं:—"धारणासु च योग्यता मनसः" यो० २।५३। अर्थात्—प्राणायाम से धारणाओं में मन की योग्यता हो जाती है। धारणा का लक्षण भी महर्षि स्वयं करते हैं:—"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" यो० ३।१। अर्थात् मन को देश विशेष में लगाने को धारणा कहते हैं। प्राणायाम से मन में यह योग्यता उत्पन्न हो जाती है कि उसे जिस विषय में चाहें दृढ़ता से लगाया जा सकता है। इस योग्यता के सम्पादन के लिये ही प्राणायाम का विधान है।

परमात्मा के अस्तित्व, ज्ञान, सुखरूपता, महानता, जनन शक्ति, तप और सत्यनिष्ठा ये सात मुख्य गुण क्रम से सिर, ज्ञानेन्द्रिय, वाणी, हृदय, नाभि, पैर और सिर में पवित्रता धारण कराते हैं। इन से अङ्गों का मार्जन होता है। मार्जन मंत्रों से अङ्गों के मार्जन की कोशिश की गई–प्राणायाम के मंत्रों से मन में विशेष योग्यता पैदा करके अब फिर वही कोशिश है। परिणाम यही होता है कि भूः, भुवः, स्वः इत्यादि मनोवाञ्छित गुणों की जड़ भिन्न भिन्न अङ्गों में जमने लगती है। पुनः पुनः अभ्यास तथा साधना से प्रयत्न में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है।

हमने प्राणायाम शब्द का ऊपर कई बार प्रयोग किया है। अब यह बताना आवश्यक है कि प्राणायाम क्या है? महर्षि ने सन्ध्या प्रारम्भ करने से पूर्व, मार्जन मंत्र के बाद और फिर अघमर्षण मंत्र के बाद इस प्रकार तीन बार प्राणायाम करने का विधान किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राणायाम हमारी उपासना का एक मुख्य और आवश्यक अङ्ग है। अतः प्राणायाम के सम्बन्ध में विस्तार से विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

प्राणायाम क्या है?

प्राणायाम में दो शब्द हैं। 'प्राण' और 'आयाम'। शरीर में प्रविष्ट हो कर कार्य्य करने वाले वायु का नाम 'प्राण' है। मुख्य रूप से हम श्वास और प्रश्वास द्वारा वायु को अन्दर ले जाते हैं और बाहर निकालते हैं। श्वास और प्रश्वास के द्वारा ही शरीर में प्राण शक्ति स्थिर रहती है, इस लिए श्वास प्रश्वास को भी 'प्राण' कहा जाता है। 'आयाम' का अर्थ है फैलाना या वश में करना। अतः प्राणायाम शब्द का अर्थ है प्राण को फैलाना या वश में करना। दूसरे शब्दों में श्वास प्रश्वास की गति को अपने वश में करके उसका फैलाना अर्थात् उसकी अवधि को बढ़ाना।

महर्षि पतञ्जलि प्राणायाम का लक्षण करते हुए लिखते हैं:—

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" यो०२. ४६ अर्थात् आसन के अभ्यास हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है।

स्वस्थ युवा मनुष्य के श्वास प्रश्वास की गति एक मिनट में प्रायः १८ या २० है। श्वास प्रश्वास की गति के विच्छेद या निरोध का अर्थ इस गति को कम करने से है। यदि मनुष्य एक मिनट में १८ श्वास लेता है तो वह क्रम से घटा कर एक मिनट में एक और इसी प्रकार शक्त्यनुसार कम कर सकता है। इस प्रकार श्वास प्रश्वास की गतिनिरोध का नाम ही प्राणायाम है।

प्राणायाम का महत्त्व और आवश्यकता

प्राणायाम के महत्त्व और आवश्यता को समझने के लिये हृदय और फेफड़ों की क्रियाओं को समझना आवश्यक है।

हृदय तथा रक्त वाही प्रणालियां

मनुष्य का हृदय उसकी बन्द मुट्ठी की तरह होता है। यह छाती के बाएँ पार्श्व में होता है। हृदय में चार कोठड़ियाँ हैं। दो साफ़ खून के लिये और दो मैले खून के लिये। साफ़ और

मैले खून के प्रवाह के लिये हमारे शरीर में दो प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म नालियां हैं। एक तो वे नालियां हैं जो सारे शरीर से हृदय में आती हैं और दूसरी वे जो हृदय से सारे शरीर में जाती हैं। जो नालियां हृदय की तरफ़ जाती हैं उन्हें 'शिरा' कहते हैं और जो हृदय से शरीर की ओर जाती हैं उन्हें 'धमनी' कहते हैं।

शिराओं का काम यह है कि सम्पूर्ण शरीर से अशुद्ध खून को शुद्ध करने के लिये हृदय में लाया करें और धमनियों का काम यह है कि शुद्ध रक्त को हृदय से ले जाकर सारे शरीर में फैला दिया करें।

रक्त अशुद्ध क्यों ?

अब प्रश्न होता है कि रक्त अशुद्ध क्यों हो जाता है ? जिस समय पहिले रक्त हृदय से सूक्ष्म धमनियों द्वारा शरीर के प्रत्येक अङ्ग में जाने लगता है उस समय वह लाल रङ्ग का चमकदार और जीवनदायक गुणों से युक्त होता है। परन्तु जिस समय वह अपना कार्य करके शिराओं द्वारा हृदय की ओर वापिस आता है तब वह नीले रंग का मैला और गुणहीन हो जाता है। मैला होने का कारण यह है कि रक्त सब अङ्गों के ल और कूड़े कर्कट को बटोरते हुए वापिस आता है। रक्त में ओषजन (Oxygen) होती है वह खर्च हो जाती है और उसकी जगह एक विषैली गैस कर्बनिकाम्ल गैस (Carbonic acid gas) रक्त में आ जाती है। परिणामतः खून का रंग मैला हो जाता है।

गन्दा रक्त हृदय की चार कोठड़ियों में से ऊपर की बाईं कोठड़ी (auricles) में पहुंच जाता है। जब यह भर जाती है तो इससे वह बाईं ओर की दूसरी मैले खून की कोठड़ी (Ventricls) में जाता है। यह कोठड़ी उसे फेफड़ों में भेज देती है। फेफड़ों में आकर रक्त साफ़ होता है।

फेफड़ों की रचना तथा कार्य

हमारे शरीर में दो फेफड़े हैं। एक छाती के दाईं ओर और दूसरा बाईं ओर। सामने से पसलियां और पीछे से मेरु-दण्ड मिलकर एक दृढ़ पिंजरा सा बनाते हैं जिसमें दोनों फेफड़े सुरक्षित रूप से धरे हुए होते हैं। फेफड़ों की बनावट स्पंज के समान होती है। जब इनमें रक्त पहुंचता है तो जैसे पानी से स्पंज भर जाता है उसी प्रकार रक्त से वे भर जाते हैं। फेफड़ों में स्पंज के समान करोड़ों छोटी छोटी कोठड़ियां होती हैं। इनकी संख्या लगभग ७ करोड़ ३० लाख होती है।

जब हम श्वास लेते हैं तो वायु नासिका के रस्ते होती हुई स्वरयंत्र 'Wind pipe' म जाती है। Wind pipe नीचे जाकर कई श्वास प्रणालियों में विभक्त हो जाता है जिन्हें Bronchial tubes कहते हैं। ये नालियां और भी पतली पतली नालियों में विभक्त होकर फेफड़ों की छोटी छोटी सब कोठड़ियों में चली आती हैं।

पहिले बताया जा चुका है कि गन्दा रक्त साफ़ होने के लिये हृदय से फेफड़ों में पहुंचता है। यह गन्दा रक्त फेफड़ों की छोटी छोटी कोठड़ियों में फैल जाता है। जब हम श्वास लेते हैं तो हवा भी वायु की छोटी छोटी प्रणालियों द्वारा इन्हीं कोठड़ियों में पहुंचती है। वहां हवा और गन्दे रक्त का मेल होता है। जब हवा और गन्दे रक्त का मेल होता है तब एक प्रकार की जलन पैदा होती है। रक्त हवा की ओषजन को खींच लेता है और अपनी कर्बनिकाम्ल नामक विषैली वायु हवा को दे देता है जो कि प्रश्वास के साथ बाहर निकल जाती है। इस प्रकार हवा से ओषजन को ले लेने से रक्त फिर साफ़, चमकीला, लाल रङ्ग का, जीवनदायिनी शक्ति से युक्त हो जाता है।

इस प्रकार रक्त साफ़ होकर हृदय की बाईं ओर की कोठड़ी Auricles में चला जाता है। वहां से फिर बाईं ओर की Ventricles में चला जाता है। वहां से फिर सूक्ष्म नालियों द्वारा सारे अङ्गों में जीवन पोषण की शक्ति पहुंचाने के लिये चला जाता है। यह कार्य प्रतिक्षण हो रहा है।

पहिले बताया जा चुका है कि फेफड़ों में लगभग ७ करोड़ ३० लाख छोटी छोटी कोठड़ियां हैं। साधारण अवस्था में जब हम श्वास लेते हैं तो लगभग २ करोड़ कोठड़ियों में वायु पहुंचती है। शेष पांच करोड़ में वायु नहीं

पहुंचती। जिस समय हम व्यायाम करते हैं, दौड़ते हैं व प्राणायाम करते हैं तभी इन शेष ५ करोड़ कोठड़ियों में वायु पहुंचती है। जो पुरुष न व्यायाम करते हैं न प्राणायाम करते हैं उनकी फेफड़ों की ७ करोड़ ३० लाख कोठड़ियों में से बहुत ही थोड़ी कोठड़ियों में वायु पहुंचती है। जिसके परिणाम-स्वरूप उन कोठड़ियों में रोग के कीटाणु पैदा हो जाते हैं, धीरे धीरे ये रोग के कीटाणु बढ़ते जाते हैं, जिससे सैकड़ों प्रकार के रोग और उपद्रव पैदा होने लगते हैं। यदि फेफड़ों के उपरिभाग में श्वास द्वारा वायु न पहुंचे तो वहां ट्युबरकल नामक कृमि इकट्ठे हो जाते हैं जिससे कि क्षय रोग (Tuberculosis) हो जाता है।

इसके अतिरिक्त पूरे परिमाण में फेफड़ों में हवा न पहुंचे तो फेफड़ों में जो गन्दा रक्त शुद्ध होने को आया है वह पूरा शुद्ध न हो सकेगा और वह अशुद्ध रक्त ही हृदय में वापिस चला जावेगा। हृदय उस फेफड़ों से वापिस आये अशुद्ध रक्त को रोक नहीं सकता। उसे धमनियों द्वारा सारे शरीर में पहुंचाना ही होगा। प्रत्येक अङ्ग को जीवनदायिनी शक्ति से युक्त शुद्ध रक्त न मिलने से उनकी पुष्टि भी रुक जाती है। परिणामतः मनुष्य निस्तेज हो जाता है। उसका दिमाग़ काम नहीं कर सकता है और उसकी रोगों की प्रति-रोधक शक्ति घट जाती है।

डाक्टरों ने हिसाब लगाया है कि प्रत्येक ५ मौत में से एक मौत फेफड़ों के रोग से होती है। १५ वर्ष से ऊपर मरने वाले प्रति ३ मनुष्यों में से १ की मौत फेफड़ों के रोग से होती है। अकाल से, महामारी से तथा युद्धों से इतने मनुष्य नहीं मरते जितने फेफड़ों के रोग से मरते हैं। अकेले भारत-वर्ष में फेफड़ों के केवल एक रोग—क्षयरोग—से २४ घण्टे के प्रत्येक मिनट में एक आदमी मर रहा है। इससे फेफड़ों की बीमारी की भयंकरता का अनुमान लगाया जा सकता है। यह सब हमारी अज्ञानता का परिणाम है। परमात्मा ने वायु का अखण्ड भण्डार हमें दिया है। हम अपनी अज्ञानता से इस प्राणप्रद वायु के भण्डार से लाभ नहीं उठाते।

क्षयरोग जैसे भयंकर रोगों से बचने के लिये, स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त करने के लिये, तथा वृद्धावस्था में भी यौवन की शक्ति से सम्पन्न होने के लिये आवश्यक बात यह है कि हमारे फेफड़ों की प्रत्येक कोठड़ी में हवा पहुंचती रहे। फेफड़ों की प्रत्येक कोठड़ी में हवा पहुंचाने का एकमात्र उपाय प्राणायाम ही है। इससे हम प्राणायाम के महत्व और आवश्यकता को भलीभांति अनुभव कर सकते हैं।

प्राणायाम से फेफड़ों की प्रत्येक कोठड़ी में हवा कैसे पहुँचती है?

जिस समय प्राणायाम के द्वारा हवाको बाहर कुछ देर रोकते हैं तो उसके बाद

श्वास लेने की बड़ी प्रबल इच्छा और आवश्यकता अनुभव होने लगती है। उसका परिणाम यह होता है कि श्वास लेते समय हवा आंधी के समान फेफड़ों में पहुंचती है। जैसे तेज हवा या आंधी शहर के प्रत्येक कोने कोने में पहुंच जाती है उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा जब हम वेग से श्वास लेते हैं तो वह भी फेफड़ों की प्रत्येक कोठड़ी में पहुंचता है। इस प्रकार प्रत्येक कोठड़ी की सफाई हो जाती है जिस से वहां रोग के कीटाणु इकट्ठे नहीं हो सकते। परिणामतः मनुष्य फेफड़ों के सैंकड़ों रोगों से बच जाता है।

इस के अतिरिक्त क्योंकि प्राणायाम से बहुत सी वायु अन्दर जाती है इस लिये अशुद्ध रक्त की सफ़ाई भी अच्छी प्रकार हो जाती है। रक्त को वायु की बहुत सी ओपजन को अपने में खेंच लेने का अवसर मिलता है। रक्त उस प्राणप्रद वायु को सब अङ्गों में, शरीर के प्रत्येक कण, मांस, और इन्द्रिय में पहुंचा देता है, जिससे कि प्रत्येक अंग शक्तियुक्त, दृढ़ और बलवान बनता है। परिणामतः सारा शरीर स्वास्थ्य, निर्मल, और कांतियुक्त बन जाता है।

शारीरिक आरोग्यता के लिये प्राणायाम की योग्यता की आवश्यकता उपरोक्त कथन से स्पष्ट है। जो व्यक्ति इस महान् कर्तव्य की उपेक्षा करता है वह अपने फेफड़ों में धीरे धीरे

घुन लगा रहा है और सैंकड़ों रोगों सहित अपनी मौत को स्वयं बुला रहा है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने प्राणायाम के इस महत्व को अनुभव करते हुए प्राणायाम को एक धार्मिक कर्तव्य बना दिया है। इस कर्तव्य की उपेक्षा पाप के तुल्य है जिसके प्रायश्चित्त के लिये डाक्टरों के द्वार पर स्वास्थ्य के लिये शीघ्र भीख मांगनी पड़ती है।

प्राणायाम की विधि

प्राणायाम के लिये शुद्ध स्थान पर कुशा या ऊन का आसन बिछा सिद्धासन लगा कर बैठना चाहिए। बैठते हुए ध्यान यह होना चाहिए कि छाती, गर्दन और मस्तक एक सीध में होवे।

रेचक

इस प्रकार बैठकर पहिले वायु को धीरे धीरे बाहर निकाल दो। फिर पेट को पीछे सिकोड़ना शुरु करो। पेट को सिकोड़ने से डायफ्राम ऊपर को उठता है। (डायफ्राम पेट और छाती के बीच में एक प्रकार का लचकीला चिकना चादर के समान मांस का परदा सा है। हृदय की धड़कन के समान यह परदा आप से आप ऊपर और नीचे होता रहता है। इसके ऊपर नीचे होने से ही फेफड़ों में श्वास आता है और बाहर निकलता है) डायफ्राम के ऊपर उठने से फेफड़ों पर दबाव पड़ता है। फेफड़ों के दबने से उनमें जो हवा बची रहती है वह भी बाहर आ जाती है। इस प्रकार पेट सिकोड़ने

को 'उड्डियान बन्ध' कहते हैं। फिर इसी अवस्था में प्राण को बाहर ही रोके हुए कुछ क्षण तक निश्चल बैठे रहना चाहिए।

पूरक फिर 'उड्डियान बन्ध' को खोल कर अर्थात् पेट को नीचे ढीला छोड़ कर नासिका के द्वारा श्वास को धीरे धीरे अन्दर भरना चाहिए। श्वास को अन्दर भरते हुए सावधानी यह होनी चाहिये कि पहले श्वास से फेफड़ों के निचले भाग को भरना चाहिए। फेफड़ों के निचले भाग के भर जाने से डायफ्राम पर दबाव पड़ता है जिससे कि पेट कुछ फूल जायगा। जब नीचे का हिस्सा इस प्रकार से भर जाय तो फेफड़ों के मध्य भाग को भरना चाहिए जिससे छाती के ऊपर का भाग थोड़ा ऊपर को उभर जायगा। अब छाती के ऊपरि भाग को भरने से पहिले ठोड़ी को कण्ठ के साथ लगा लेना चाहिए। ठोड़ी को कण्ठ के साथ लगाने को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। यदि 'जालन्धरबन्ध' न लगाया जाय तो प्राण का आघात मस्तिष्क और ज्ञानतन्तुओं पर पहुंच जाता है जिससे हानि होने की सम्भावना है।

कुम्भक जिस समय श्वास फेफड़ों में इस प्रकार भर जाय तो उसे कुछ काल तक अन्दर ही रोके रखना चाहिए। श्वास रोकने में जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए।

रेचक कुछ देर ठहरने के बाद 'जालन्धरबन्ध' को खोल कर नासिका से धीरे धीरे श्वास को बाहर

निकाल देना चाहिए। श्वास को निकाल कर फिर 'उड्डियान बन्ध' लगा लेना चाहिए और कुछ क्षण तक श्वास को बाहर ही रोक देना चाहिए। जब सब हवा निकल जाय तो पेट को ढीला छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार एक प्राणायाम होता है।

प्राणायाम में समय की अवधि निम्न प्रकार से अनुभवी लोगों ने निश्चित की है। समय की अवधि के अनुसार प्राणायाम निकृष्ट, मध्यम, उत्तम तीन प्रकार का कहा जाता है।

	पूरक	कुम्भक	रेचक
निकृष्ट	४ सै.	१६ सै.	८ स.
मध्यम	६ ,,	२४ ,,	१२ ,,
उत्तम	८ ,,	३२ ,,	१६ ,,

समय की अवधि के विपय में साधारण नियम यह है कि पूरक में जितना समय लगे उसका चौगुना कुम्भक में और दुगना रेचक में लगना चाहिए।

प्राणायाम करते हुए 'ओं भूः ओं भुवः' इत्यादि प्राणायाम मंत्र का मानसिक जाप विशेष लाभदायक है। पूरक में यदि प्राणायाम मंत्र की एक आवृत्ति की हो तो कुम्भक में चार और रेचक में दो आवृत्ति करनी चाहिए।

प्राणायाम के लाभ

(क) प्राणायाम और शारीरिक उन्नति प्राणायाम शारीरिक उन्नति में अत्यन्त सहायक है। यह प्राणायाम के महत्व और आवश्यकता बताते हुए स्पष्ट किया गया है। संक्षेप से कहा जा सकता है कि—

प्राणायाम करने वाला व्यक्ति क्षयरोग जैसे भयंकर रोग तथा खांसी, अन्य बहुत से फेफड़े सम्बन्धी रोगों से सुरक्षित रहता है।

प्राणायाम से फेफड़ों में पूर्णरूप से हवा पहुंचने से रक्त की सफाई अच्छी तरह से होती है इस लिये रक्त-विकार सम्बन्धी रोग से व्यक्ति सुरक्षित रहता है।

प्राणायाम आमाशय Stomach कलेजा (Liver) तथा पित्ताशय (Pancreas) इत्यादि पाचन में सहायक अङ्गों तथा आंतों (Intestines) और गुर्दों इत्यादि मैल खारिज करने वाले अङ्गों की सबसे उत्तम व्यायाम है। प्राणायाम से पाचन तथा उत्सर्जन में सहायक अङ्गों की व्यायाम हो जाने से अजीर्ण तथा कब्ज़ी (Constipation) की शिकायत नहीं हो सकती।

श्वास नाड़िका तथा फेफड़ों की निर्बलता से तथा ठंडी हवा लग जाने से जुकाम हो जाता है। प्राणायाम करने वाला व्यक्ति इस रोग से भी बचा रहता है।

यदि एक शब्द में कहें तो प्राणायाम का अभ्यासी ६० प्रतिशतक रोगों से अनायास बच सकता है।

(ख) प्राणायाम और मानसिक उन्नति

छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है:—

"स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्रायतनमलब्ध्वा, बन्धमेवोपाश्रयते; एव मेव खलु सोम्य! तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते, प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः"

(छान्दोग्य ६. ८. २)

अर्थात्—"जिस प्रकार डोरी से बन्धा हुआ पतंग अनेक दिशाओं में उड़ कर दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने से अपने मूल स्थान पर ही आ जाता है, उसी प्रकार हे प्रिय, वह मन भी अनेक दिशाओं में घूम घाम कर दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने के कारण प्राण का ही आश्रय करता है क्योंकि हे प्रिय! मन प्राण के साथ बंधा हुआ है।"

William Jesse Feiring ने "Personal Hygien" नामक पुस्तक में मन औ. प्राण के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में लिखा है:—

"The mode of our breathing is closely related to our mental condition, either influences

the other Agitation makes us catch our breath and sadness makes us sigh. Conversely slow even breathing calms mental agitation. It is not without reason that in the East breathing exersises are used as a means of cultivating mental poise and as an aid to religious life."

अर्थात् "श्वासोच्छ्वास के प्रकार का हमारी मानसिक स्थिति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। मानसिक क्षोभ से हमारा श्वास निरुद्ध-कल्प सा हो जाता है और उदासी से हम ठंडे श्वास लेने लगते हैं। इसके विपरीत मन्द और एकरस श्वास से हमारा मानसिक क्षोभ शान्त हो जाता है। पूर्वीय देशों में प्राणायाम का मानसिक समता प्राप्त करने तथा धार्मिक जीवन में सहायक रूप से उपयोग अकारण ही नहीं हुआ है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राण के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन और प्राण में इस घनिष्ठ सम्बन्ध के होने के कारण ही प्राण को वश में करने से मन स्थिर व एकाग्र होता है। प्राणायाम में मन को एकाग्र करने की योग्यता है इसे अन्य भी पश्चिम के विद्वान मानने लगे हैं:—
K. L. Anderson की सम्मति में—

An undoubted aid to concentration is to practice deep and regular breathing"

अर्थात्–मानसिक एकाग्रता में प्राणायाम निस्सन्देह सहायक है।

महर्षि पतञ्जलि का मत इस सम्बन्ध में दर्शाया जा चुका है।

(ग) प्राणायाम और आत्मिक उन्नति

प्राणायाम से मन की चंचलता मन्द पड़ती है और अन्त में मन का निरोध हो जाता है। मन के निरोध से इन्द्रियां अन्तर्मुख हो जाती हैं। ज्ञान और क्रिया के कार्य्य बन्द हो जाते हैं, सब विक्षेप हट जाते हैं। परिणामतः आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है, प्रकाश की झांकी प्राप्त करता है तथा अपने अन्दर विद्यमान परमात्मा का साक्षात् कर पाता है। योगदर्शन में प्राणायाम का फल बताते हुए महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं:—"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात्—प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश पर पड़ा पर्दा हट जाता है, आत्मा की ज्योति प्रकट हो जाती है, अनन्त प्रकाश खुल जाता है।

अघमर्षण मंत्र

(ऋषिर्माधुच्छन्दसोऽघमर्षणः, देवता भाववृत्तम्; छन्दोऽनुष्टुप्)

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥१॥
ओं समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
ओं सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

(ऋग्वेद १०.१९०. १-२-३)

शब्दार्थ—

(ऋतं[1]) 'ऋत' अर्थात् नैतिक नियम अथवा यथार्थ ज्ञान वेद (सत्यं[2]) 'अर्थात् प्राकृतिक नियम अथवा प्राकृतिक जगत् ये दोनों (अभीद्धात्[3]) सब ओर से प्रकाशमान (तपसः) तपोमय भगवान् से उत्पन्न हुए (ततः) उससे (रात्रिः) प्रलय (अजायत) उत्पन्न हुई (ततः) उस प्रभु से ही (समुद्रः) समुद्र (अर्णवः) जलवाला हुआ (अर्णवात्) जलवाले (समुद्रात्) समुद्र से (अधि) पीछे (संवत्सरः) क्षण-मुहूर्त-प्रहर-विशिष्ट काल (अजायत) उत्पन्न हुआ (विश्वस्य) समस्त (मिषतः) निमेषोन्मेष अर्थात् हरकत करने वाले प्राणी जगत् के (वशी) वश में रखने वाले परमेश्वर ने (अहोरात्राणि) दिन रात को (विदधत्) रचा (धाता) संसार को धारण करने वाले परमेश्वर ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य, चन्द्र को (यथापूर्व) पूर्व सृष्टि के समान (दिवञ्च) द्युलोक को भी

१—२. ऋत, सत्य। वैदिक साहित्य में ऋत और सत्य इन दो शब्दों का प्रयोग परस्पर भिन्न भिन्न अर्थों में हुआ है। सत्य शब्द अधिकतर उन भौतिक तथा मानसिक सचाइयों के लिये प्रयुक्त हुआ है जिनका ज्ञान हमें पञ्चेन्द्रिय तथा मन अर्थात् बाह्य और आन्तरिक करणों द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक तथा दार्शनिक सचाइयों का नाम सत्य है। 'ऋत' वह आध्यात्मिक तत्व है जो इन भौतिक सचाइयों का मूल है। इसका प्रत्यक्ष योगियों को 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के उदय होने से होता है।

३. अभीद्धात्—अभीद्ध शब्द 'अभि' उपसर्गपूर्वक 'इन्धी-दीप्तौ' धातु से बना है।

(पृथिवीं) पृथिवी (च) और (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को भी (अथो) और (स्वः) सुखधाम अथवा अनन्त चमकते हुए ग्रह उपग्रह (अकल्पयत्) रचे।

भावार्थः—सब ज्ञान के भण्डार वेद तथा यह प्राकृतिक जगत् तपोनिधि परमात्मा से प्रकट हुए। प्रलयकर्त्ता भी परमेश्वर है। आकाश में जलवाले मेघ तथा पृथ्वी पर लहरें मारते हुए समुद्र उसी प्रभु की रचना है। क्षण, मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात, सूर्य चन्द्र, द्युलोक, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक, अन्य चमकते हुए ग्रह उपग्रह, सम्पूर्ण जगत् को वश में रखने वाले तथा सबका धारण पोषण करने वाले प्रभु ने ही पूर्व सृष्टि के समान बनाये हैं।

व्याख्याः—

अङ्गस्पर्शों के मन्त्रों से आत्मनिरीक्षण हो चुका। आत्मनिरीक्षण से जिन दोषों का ज्ञान हुआ उनका मार्जन मन्त्रों से परमात्मा के भिन्न भिन्न नामों के चिन्तन से मार्जन किया गया। प्राणायाम मंत्रों से मन को एकाग्र व समाहित करके परमात्मा के उन्हीं नामों का स्मरण करते हुए भिन्न भिन्न अङ्गों में भिन्न भिन्न गुणों को बसाने का प्रयत्न किया गया। अघमर्षण के मंत्रों से अब आन्तरिक प्रक्षालन के लिये प्रयत्न है।

पाप के अवसान के प्रयत्न में ही परम पवित्र प्रभु की पूजा का प्रारम्भ है। पाप प्रबल है। पापसैन्य पर विजय

पा सकना सरल नहीं। प्रलोभनों को ठुकरा सकना सतत अभ्यास और साधना चाहता है। पूर्णता के लिये प्रयत्नशील पुरुष भी पद पद पर पाप सैन्य से परास्त होता है। जिस समय काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि शत्रु अपनी सेना सजा कर आक्रमण करते हैं उस समय मैदान में डट कर लोहा लेना किसी वीर और धीर का ही काम है। अर्जुन ने यह युद्ध लड़ा है। वह निम्न श्लोक में मानव हृदय की भावना को प्रकट करते हुए भगवान् कृष्ण से कहता है:—

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः"॥

अर्थात्—"न जाने कौनसी शक्ति है जिससे कि मनुष्य न चाहते हुए भी जबरन पाप में प्रवृत्त किया जाता है।"

पाप की इस प्रबलता के कारण ही सन्ध्या के प्रारम्भ में भिन्न भिन्न उपायों से पाप के प्रक्षालन का प्रयत्न किया जा रहा है।

पाप पर आक्रमण के दो उपाय हैं। प्रथम प्रतिपक्ष भावना का उत्थापन और दूसरा पाप की जड़ का उन्मूलन। प्रथम उपाय के विषय में महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं:—

'वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्' (योगदर्शन २.३३)

अर्थात्—'वितर्क जब आक्रमण करे तब प्रति पक्ष की भावना करनी चाहिये' यम नियमों के विरोधी-हिंसा, झूठ, चोरी, विषयासक्ति इत्यादि वितर्क कहाते हैं। जब यह आक्रमण करें तो इनके प्रतिपक्ष (विरोधी सद्‌गुणों) का चिन्तन करना चाहिए। उदाहरणार्थ जब काम सतावे, तो ब्रह्मचर्य का चिन्तन करे। यह ठीक है कि जब काम की आंधी उठे तो कुछ देर विचार के लिए ठहर सकना सहज नहीं। काम आंधी के समान उड़ाए ले जाता है परन्तु जिसने विजय प्राप्त करनी है उसे तो इस आंधी में भी दृढ़ संकल्प से स्थिर होना होगा, कुछ देर ठहरना होगा, विचार और चिन्तन करना होगा। काम का परिणाम शक्ति और बल का विनाश, स्वास्थ्य और सौन्दर्य का ह्रास तथा पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि है। दूसरी ओर काम पर विजय अथवा ब्रह्मचर्य का परिणाम—विजय का उल्लास, अजीबोग़रीब मस्ती, तथा अनिर्वचनीय आत्मप्रसाद है। इस प्रकार प्रतिपक्षभावना से—काम के विरोधी ब्रह्मचर्य के सुपरिणाम के चिन्तन से—काम रूपी प्रबल शत्रु का सिर कुचला जा सकेगा। पाप पर विजय पाने का यह प्रथम उपाय है।

मार्जन तथा प्राणायाम मंत्रों से इसी प्रथम उपाय द्वारा पाप पर आक्रमण किया गया है। परमात्मा के भिन्न भिन्न नामों का स्मरण करते हुए सत्य, तपस्या, महानता इत्यादि पवित्र गुणों को भिन्न भिन्न अङ्गों में बसाने द्वारा

पाप भावना के प्रक्षालन का प्रबल प्रयत्न किया गया है।

पाप पर विजय पाने का दूसरा उपाय पाप की जड़ पर प्रहार करना है। 'न रहे बांस न बजे बांसरी' अघमर्षण के मन्त्रों से इसी उपाय के अनुसार पाप की जड़ पर चोट की गई है।

सब पापों की जड़ अविद्या व अज्ञान है। भगवान् बुद्ध ने अविद्या को ही मूल व्याधि माना है:—

"ततो मला मलतरं अविज्जा परमं मलं
एतं मलं पहत्वान निम्मला होथ भिक्खवो।"
(धम्मपद मलवग्गो)

अर्थात्—"जितनी मलिनताएं हैं उनमें सबसे बढ़ कर मलिनता अविद्या व अज्ञान है। हे भिक्षुगण! इस मल को छोड़ कर पवित्र बनो।"

यह अज्ञान ही वह दीवार है जिसने आत्मा को सीमित और स्वार्थबद्ध बना रक्खा है। यही वह आवरण है जिसने परिच्छिन्न आत्मा को अनन्त आत्मा के दर्शन से वंचित कर रक्खा है। यही वह मुलम्मा है जिसने हमारे विशुद्ध स्वरूप को हमसे ओझल किया हुआ है।

अज्ञान-अपने स्वरूप व स्थिति का अज्ञान—मुख्यत: दो शक्लें धारण किया करता है। कभी अभिमान की, कभी अवमान की। श्री पं० चमूपति जी ने अज्ञान के इन दोनों

स्वरूपों का सुन्दर वर्णन किया है—"कोई तो अपने आपको परमात्मा का बड़ा भाई कहता है और अन्य प्राणियों पर अत्याचार करना उस ज्येष्ठ भ्रातृत्व का स्वाभाविक फल जानता है। वह अपनी वास्तविक स्थिति से ऊंचा उड़ा। यह उक्त अज्ञान का एक रूप है जिसे 'अभिमान' कहते हैं। एक और महाशय अपना इतना भी अस्तित्व नहीं जानता जितना जड़ प्रकृति का। वह रींगता है और गिड़गिड़ाता है। आत्म-विश्वास उसमें नहीं। काम करने का उत्साह उससे दूर है। यह उक्त अज्ञान का दूसरा रूप है जिसका लौकिक नाम भय❀ है।"

संसार में जितना अन्याय व अत्याचार है, जितना पाप और पतन है वह सब अभिमान तथा अपमान से है। जो अज्ञान की इन दोनों अवस्थाओं से हटा वह पाप से छूटा। अघमर्षण के मंत्रों से अज्ञान की इन्हीं दोनों अवस्थाओं पर प्रहार किया गया है।

अघमर्षण का अर्थ है 'अघ का मर्षण' अर्थात् पाप का निवारण व दूरीकरण। ऋग्वेद के 'ऋतञ्च सत्यञ्च' इत्यादि तीन मंत्रों को अघमर्षण मंत्र इसलिये कहते हैं क्योंकि इन मंत्रों का द्रष्टा अघमर्षण ऋषि है। किसी ऋषि ने

❀ भय शब्द का प्रयोग यहां उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। जिस भाव को व्यक्त करने के लिए भय शब्द का प्रयोग हुआ है उसी भाव को 'अपमान' शब्द अधिक उत्तमता से व्यक्त करता है।

इन मंत्रों के मनन से अघ का मर्षण किया होगा इसलिये इनका नाम अघमर्षण है। अथवा इन मंत्रों में अघ के मर्षण की अद्भुत शक्ति है इसलिये इन मंत्रों का नाम अघमर्षण है। मनु महाराज ने ऋग्वेद के इन तीन मंत्रों के सूक्त की महिमा का वर्णन किया है।

"यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम्"

(मनु० ११, १६.)

अर्थात् "जैसे यज्ञों में राजा अश्वमेध यज्ञ सब पापों को दूर करने वाला है उसी प्रकार अघमर्पण सूक्त सब पापों का निवारक है।

प्रश्न हो सकता है कि इन मंत्रों में क्या विशेषता है जिससे कि यह सब पापों के निवारण में समर्थ है? इन मंत्रों में सृष्टि और प्रलय का वर्णन है। पूछा जा सकता है कि सृष्टि प्रलय के वर्णन का अघमर्षण के साथ क्या सम्बन्ध है?

पहिले बताया जा चुका है कि सब पापों की जड़ अज्ञान है। अज्ञान के दो रूप हैं अभिमान और अपमान। अघमर्षण के मंत्रों में सृष्टि और प्रलय का वर्णन कर अभिमान तथा अपमान पर चोट की गई है। इस प्रकार

पाप की जड़ के उन्मूलन से सब पापों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

जिसे अहंकार सताता है, जिसे अभिमान का मद चढ़ता है, जो गीता के शब्दों में आसुरीवृत्ति वाले पुरुष के समान समझता है—

"ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी"

मैं स्वामी हूं, मैं भोक्ता हूं, मैं पूर्ण हूं, मैं सुखी हूं तथा—

आढ्योऽभिजनवानास्मिकोऽन्योऽस्ति सदृशो मया"

मैं धनवान हूं, मैं बड़े खानदान का हूं, मेरे समान दुनिया में कौन है, इत्यादि, वह इस विशाल ब्रह्माण्ड पर ज़रा दृष्टि डाले। जिस पृथ्वी पर वह खड़ा है और जिस सूर्य के प्रकाश से वह देख पाता है उसकी विशालता पर विचार करे, क्या उसे अपनी अल्पता का अनुभव नहीं होता?

ऐ अभिमान में मस्त मनुष्य! ज़रा नज़र उठा। इस विराट् विश्व को देख, जिसके एक पत्ते की रचना को समझने में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान—जिसका कि उसे सबसे अधिक घमण्ड है असमर्थ है। इस विश्व की रचना में उस विराट् प्रभु का क्या हाथ दिखाई नहीं देता जिसका एक एक नियम अटूट और अविचल है, जिसकी व्यवस्था अचम्भे में डालती है, जिसका न्याय अक्षुण्ण और अपूर्व है, सम्पूर्ण

विषयों के भण्डार वेद जिस के निश्वासमात्र हैं, अनन्त काल से संसार में प्रकाश का प्रसार करने वाले सूर्य्य और चांद जिसकी लीला के निमेष मात्र हैं, ऊंची लहरों में उमड़ता असीम समुद्र जिसकी आज्ञा से सीमा न छोड़ने को विवश है और जिसके हुक्म को बजाने के लिये हज़ारों आत्मायें हरवक़्त हाथ जोड़ कर खड़ी हैं।

ऐ अपनी शक्तियों का अभिमान करने वाले मनुष्य! ज़रा दूसरी ओर भी नज़र उठा। विश्वरचना का चित्र देखा, प्रलय का चित्र भी देख। जिस समय इस विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माण करने वाला विराट् प्रभु प्रलय का महाताण्डव करता है, धरती कांप उठती है, आसमान में चमकने वाले सूर्य्य, चांद और सितारे टूट पड़ते हैं। ऊंचे खड़े पहाड़ों का कण कण चकनाचूर हो जाता है। विशाल समुद्र की बूंद बूंद सूख कर आसमान में विलीन हो जाती है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कण कण अलग होकर न जाने कहां उड़ जाता है।

जो मनुष्य अघमर्षण के मंत्रों में वर्णित सृष्टि और प्रलय की इन महान् घटनाओं पर विचार करता है, वह इस विश्व की रचना तथा संहार करने वाले प्रभु के विराट् रूप का दर्शन करता है। उसके मुंह से अनायास निकल पड़ता है:—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'

(कठ: २. २०)

प्रभु महान् से महान् है। जो इस 'महतो महीयान्' के दर्शन कर लेता है वह अभिमान क्या करेगा ? जहां सूर्य का अनन्त प्रकाश है वहां टिमटिमाता दीपक क्या ? जहां असीम समुद्र है वहां बूंद की हस्ती क्या ? मनुष्य को अल्पता का अनुभव होता है, अहंकार टूटता है, हृदय नम्र होता है और और मस्तक श्रद्धा से चरणों में झुक जाता है।

जिसे अवमान सताता है, जो अपने आप को अत्यन्त तुच्छ समझ रहा है, जिसे अपने पतन से निराशा है और निरुत्साह है, जिसे विषाद और अवसाद घेरे हुए हैं वह भी इन अघमर्षण के मंत्रों में वर्णित सृष्टि और प्रलय की दिव्य घटनाओं को देखे। सृष्टि के बाद प्रलय है, परन्तु प्रलय के बाद सृष्टि है। जो अणु अणु को तोड़ता है, वह तोड़ फोड़ के पश्चात् जोड़ता भी है। इस विश्व का निर्माण कर्त्ता प्राणी प्राणी को जीवन दे रहा है। अणु अणु को गति दे रहा है। जंगल के फूल में भी किस्म किस्म के रङ्ग भर रहा है। समुद्र के गहरे तल में विचरने वाले जलचरों को भी भोजन दे रहा है। इस सृष्टि के कर्ता को अपनी सृष्टि के अणु अणु की चिन्ता है। मनुष्य तो उस विश्वकर्ता की सर्व श्रेष्ठ रचना है। फिर निराशा कैसी! हतोत्साह होना क्या ! विषाद और अवसाद को अवकाश कहां !

अपनी गिरावट से ऐ रींगते और गिड़गिड़ाते मनुष्य ! विश्व के निर्माण करने वाले विराट् प्रभु की दैवीय घोषणा को क्या नहीं सुना ?—

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः"

(गीता १८. ६६)

"सब धर्म के झगड़ों को छोड़ कर एक मेरी शरण पकड़, शोक मत कर, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा"

यह दैवीय घोषणा तुझे उठाती नहीं ? तेरे निराश और हताश हृदय में क्या किसी नवीन आशा को फूँक नहीं देती ?

'अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी'

सम्पूर्ण प्राणी जगत् को वश में करने वाले विधाता ने अहोरात्र का निर्माण किया है। यह अहोरात्र क्या स्पष्ट रूप से नहीं कर रहा कि दिन के बाद रात्रि है और रात्रि के पश्चात् दिन है। प्रकाश के पश्चात् अन्धकार है परन्तु अन्धकार के पश्चात् सूर्य का चमकता प्रकाश है। विधाता का यह अहोरात्र, रात्रि के अन्धकार के बाद प्रतिदिन नई नई शक्तियों के साथ उदित होने वाला नया नया प्रभात, क्या तुझे नई नई उमङ्गों से उन्नति के पथ पर अपना पग उठाने के लिये उत्साहित नहीं करता ?

सृष्टिकर्ता के लिये असम्भव क्या ! जड़ परमाणुओं से वह सुन्दर संसार खड़ा करता है। नीचे पड़े हुओं को उठाता है। डूबतों को बचाता है। पतित से पतित का उद्धार

कर सकता है। उसकी एक वर्षा से सूखे और मुरझाये हुए घास, पत्ति और पेड़ फिर से लहलहा उठते हैं। जो प्रलय के विनाश के बाद इस विशाल विश्व की फिर से रचना करता है उसके लिये तुझे उठा सकना कौन बड़ी बात है? वह उठा सकता है, उठाता है, नवीन रचना करता है, जीवन देता है। आवश्यकता इस बात की है कि उठने की तड़पन तो दिखा। अपनी शक्तियों का अपमान न कर, ज़रा एक बार पाप से लड़ कर तो देख, विश्वकर्ता की शरण पकड़, बिगड़े जीवन को वह बना देगा, सब तुच्छता को मिटा देगा, तुझे महान् बना देगा।

जब अपमान हटता है मनुष्य पापों से छूटता है अघों का मर्षण होता है।

अघमर्षण

विनय

हे सम्पूर्ण संसार के रचने वाले जगत्पिता परमेश्वर! तुम त्रिभुवन पावन हो। यह जानते हुए कि पाप के अवसान के प्रयत्न में तुम्हारी सच्ची पूजा व आराधना का आरम्भ है, मैं पाप का मर्षण करूं।

पाप प्रबल है। प्रलोभन पग पग पर पथभ्रष्ट किया चाहते हैं। हे महान् प्रभु! तुम्हारी शरण पकड़ कर मैं अब पाप का समूल नाश किया चाहता हूं।

हे सबके धारण करने वाले प्रभु ! जब तुम्हारी कृपा और करुणा से मुझे ऐश्वर्य मिलता है, बल प्राप्त होता है, सफलता चरण चूमती है तो मैं अभिमान में मस्त होता हूँ, दूसरों को छोटा समझता हूँ, तिरस्कार करता हूँ, अन्याय तथा अत्याचार करना अपना अधिकार समझता हूं।

हे परम महान् ! जीवन के दूसरे क्षणों में जब मैं असफल होता हूँ, अपना पतन समझता हूँ। पग पग पर पाप से पराजय पाता हूँ, तो आत्मा का अवमान करता हूँ, निराश होता हूँ, अन्धकार देखता हूँ, हे सृष्टिकर्ता ! जब मैं नज़र उठाता हूँ, तेरी महान रचना को देखता हूँ तो चमकते सूर्य, चन्द्र, टिमटिमाते सितारे, उमड़ते समुद्र, बादल, द्युलोक, पृथ्वीलोक तथा अन्तरिक्ष लोक सबको तुम्हारी महिमा का गीत गाते पाता हूँ। मुझे अपनी अल्पता का अनुभव होता है, अहंकार टूटता है, हृदय नम्र होता है, मस्तक तुम्हारे चरणों में झुका पाता हूं।

हे परम महान ! सृष्टि का और प्रलय का चक्र तुम्हारे हाथों से संचालित है। प्रलय के विनाश के बाद फिर तुम उस विराट् विश्व की रचना करते हो। तुम्हारा बनाया अहोरात्र मुझे कह रहा है कि रात्रि के अन्धकार के बाद फिर चमकते हुए सूर्य का प्रकाश है। हे विश्व के निर्माण कर्ता ! मैं तुम्हारी सृष्टि में देखता हूँ कि सूखे और मुरझाए हुए

घास, पत्ती, और पेड़ जब तुम्हारी इच्छा होती है फिर लहलहा उठते हैं। जब मैं इन घटनाओं को देखता हूँ तो मेरे हृदय में आश्वासन और सान्त्वना की वर्षा होती है। उन्नति की उमङ्ग उठती है। तुम्हारी शरण पकड़ता हूँ। मेरी तुच्छता मिटती है, पाप का मर्षण होता है।

हे प्रभो! सृष्टि और प्रलय के इस दिव्य चक्र का निर्माण तुमने इसलिए किया है कि हम अभिमान तथा अवमान से बचते हुए अपने सत्य स्वरूप को समझें और तुम्हारे अक्षय आनन्द को पाने के लिए प्रत्येक नवीन प्रभात में नई उमङ्गों से अपने कदम उठाते जांय।

हे प्रभो! अपने आशीर्वाद के अमृत की वर्षा करो जिससे हम पाप पर विजय पा सकें और तुम्हारे आनन्द रस के आस्वादन से कृतकृत्य हो सकें।

मनसा परिक्रमा के मंत्रों पर प्रारम्भिक प्रवचन

अघमर्षण मंत्र के पश्चात् पुनः आचमन मंत्र पढ़कर तीन वार आचमन करने का विधान है।

अघमर्षण हो लिया, पुनः आचमन से मन शान्त तथा समाहित हुआ। साधक का हृदय अब कठोर साधना के लिये तैयार है।

मनसा परिक्रमा का अर्थ है 'मन के द्वारा परिक्रमा'। मन तो प्रतिक्षण ही परिक्रमा लगाता है। "यज्जाग्रतो दूर-मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति" जाग्रत अवस्था में दूर दूर दौड़ता ही है, परन्तु स्वप्नावस्था में भी मन की दौड़ (परिक्रमा) समाप्त नहीं होती। फिर प्रश्न होता है कि मनसा परिक्रमा के मंत्रों से मन के द्वारा कौनसी परिक्रमा लगानी अभी शेष है?

साधक मन की स्वच्छन्द दौड़ समाप्त करता है। मन की स्वच्छन्द परिक्रमा नहीं, अपितु मन के द्वारा अब वह विशेष ढंग की परिक्रमा करना चाहता है। इस परिक्रमा में मन स्वयं नहीं घूमेगा, परन्तु मन के द्वारा छः मनकों की एक माला को घुमाया जावेगा। मनसा परिक्रमा के वर्णित छः दिशाएं इस माला के छः मनके हैं।

मनसा परिक्रमा के एक एक मंत्र का अर्थ करने से पूर्व इन मंत्रों में जो सामान्य (Common) शब्द हैं उनका भाव स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इन सामान्य शब्दों को समझ लेने से मंत्रों के गूढ़ अर्थों को समझने में सरलता होगी।

दिक्—सबसे प्रथम 'दिक्' शब्द इन मंत्रों में सामान्य रूप से प्रयुक्त हुआ है। 'दिक्' शब्द का अर्थ है दिशा (Direction)। साधक अपनी जीवन यात्रा में जिस ओर कदम उठाना चाहता है उसे 'दिक्' शब्द से द्योतित किया गया है। दूसरे शब्दों में 'दिक्' शब्द का भाव मनसा परिक्रमा के मंत्रों में पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण इत्यादि बाह्य दिशाएं नहीं, अपितु 'दिक्' शब्द साधना के पथ अथवा जीवन के उद्देश्य व लक्ष्य (aim and object) को प्रकट करता है।

अधिपतिः—'अधिपति' शब्द का अर्थ अधिष्ठाता व स्वामी होता है। साधक जिस दिशा में यात्रा करना चाहता है उस दिशा में यात्रा करते हुए प्रभु के जिस रूप को आदर्श रूप में अपने सम्मुख रखना आवश्यक है उसे उस दिशा का 'अधिपति' कहा गया है। दूसरे शब्दों में इन मंत्रों में 'अधिपति' शब्द का अभिप्राय आदर्श (Ideal) है।

रक्षिता—'रक्षिता' शब्द 'रक्ष' धातु से बना है जिस का अर्थ है रक्षा करना। साधक जिस दिशा में

यात्रा करता है उस दिशा में आगे बढ़ने के लिये जो भाव रक्षा करने वाला व सहायक है उसे 'रक्षिता' शब्द से प्रकट किया गया है।

इषवः—'इषु' शब्द 'इष्' धातु से बना है। 'इष्' धातु का अर्थ इच्छा करना, गति व प्रेरणा होता है। साधक जिस दिशा में यात्रा करता है उस दिशा में जो व्यक्ति गति व प्रेरणा करने वाले हैं अथवा इच्छापूर्ति के साधन हैं उन्हें 'इषु' शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। दूसरे शब्दों में अपने लक्ष्य पर पहुंचने के लिये संसार के जो व्यक्ति प्रेरक हैं उनके लिये इन मन्त्रों में 'इषु' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि 'दिक्', 'अधिपति', 'रक्षिता', 'इषु' इत्यादि शब्दों का प्रयोग इन मन्त्रों में आलङ्कारिक है। जो काव्य के मर्म को जानते हैं वे इन आलङ्कारिक प्रयोगों का आनन्द ले सकते हैं।

मनसा परिक्रमा के मन्त्रों के द्वितीय चरण में अधिपति, रक्षिता तथा इषु को नमस्कार किया गया है। नमस्कार यहां श्रद्धा की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त साधक के मन की दृढ़ भावना को भी व्यक्त करता है।

नमस्कार के पश्चात् तृतीय चरण में सब मंत्रों में 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन शब्दों का अर्थ है—जिससे हम

द्वेष करते हैं और जो हमसे द्वेषभाव रखता है उस द्वेषभाव को आपके दाढ़ में अर्थात् आपकी विनाशक शक्ति के सम्मुख रखते हैं।

किसी भी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये पारस्परिक प्रीति अत्यन्त आवश्यक है। द्वेष भावना पारस्परिक प्रीति की विरोधी भावना है। जहां द्वेष है वहां परस्पर प्रीति सम्भव नहीं। साधक यहां द्वेषभावना के नाश की प्रार्थना व प्रतिज्ञा कर रहा है जिससे कि न वह किसी से द्वेष कर सके और न कोई उससे द्वेषभाव रख सके।

मनसा परिक्रमा के मंत्रों का निम्न कोष्ठक दिया जाता है जिससे मंत्रों का ठीक बोध हो सके।

दिक्	अधिपति	रक्षिता	इषवः
प्राची	अग्निः	असितः	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरश्चिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृदाकुः	अन्नम्
उदीची	सोमः	स्वजः	अशनिः
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषग्रीवः	वीरुधः
ऊर्ध्वा	बृहस्पतिः	श्वित्रः	वर्षं

अब क्रमशः प्रत्येक मन्त्र का स्पष्टीकरण देखिये—

मनसा परिक्रमा का प्रथम मंत्र

ओं प्राची दिगग्नि रधिपति
रसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः॥

(अथर्व० ३.२७.१)

शब्दार्थ—

(प्राची) आगे बढ़ने की (दिक्) दिशा है। उस प्राची दिशा में (अग्निः) अग्नि स्वरूप भगवान् (अधिपतिः) आदर्श है। (असितः[1]) बन्धन रहित होने का भाव (रक्षिता) रक्षा करने वाला है। (आदित्याः[2]) आदित्य ब्रह्मचारी व सच्चे विद्वान् (इषवः) प्रेरक व सहायक हैं। (तेभ्यः) उस (अधिपतिभ्यः[3]) अग्रणी भगवान् को (नमः) नमस्कार हो। (रक्षितृभ्यः) रक्षक भाव को (नमः) नमस्कार हो। (इषुभ्यः) प्रेरक व सहायक आदित्यों को (नमः) नमस्कार हो। (एभ्यः) इन सबको (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो। (यः) जो (अस्मान्) हमको (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यं) जिसको (वयं) हम (द्विष्मः) द्वेष की आंख से देखते हैं (तं) उस द्वेषभाव को (वः) आपके (जम्भे) दाढ़ में (दध्मः) रखते हैं।

---

(१) असितः– 'सिञ् बन्धने' इस धातु से 'सितः' शब्द बनता है जिस का अर्थ है बंधा हुआ। न + सितः = असितः–न बन्धा हुआ, बन्धन रहित (Unbound)

(२) आदित्याः– "आदित्यो जगद्गुरुरीश्वरस्तस्य पुत्राः आदित्याः।" 'आदित्य' नाम परमेश्वर का है, 'तदेवाग्निस्तदादित्यः' (यजु–३२. १) तथा परमेश्वर के पुत्र अर्थात् इसके ज्ञान के प्रसार करने वाले, ज्ञान की ज्योति से आज्वल्यमान विद्वानों का नाम 'आदित्य' है। अथवा 'आदित्यः कस्मात्? आदीप्तो भासा' = ब्रह्मचर्य की ज्योति से देदीप्यमान विद्वान् ब्रह्मचारियों का नाम 'आदित्य' है।

(३) 'बहुवचनमादरार्थम्' बहुवचन का यहां प्रयोग आदर के सूचनार्थ हुआ है।

भावार्थ— आगे बढ़ना लक्ष्य है। अग्रणी भगवान् इस आगे बढ़ने के लक्ष्य में आदर्श हैं। इस मार्ग में बन्धन रहित होने का भाव रक्षा करने वाला है। आदित्य ब्रह्मचारी व ज्ञान की ज्योति से जाज्वल्यमान पुरुष प्रेरक व सहायक हैं। आदर्श को, रक्षाभाव को तथा प्रेरणा देने वाले आदित्य पुरुषों को नमस्कार। जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उस द्वेष भाव को तेरे जबड़े में रख देते हैं।

व्याख्या:—

साधक अब छः मनकों की माला फेरना शुरू करता है। मनसा परिक्रमा के मंत्रों में वर्णित छः दिशाएं, संकल्प, लक्ष्य व प्रण ही इस माला के मनके हैं। इन छः मनकों में जीवन-सूत्र को पिरोया गया है। जिस प्रकार प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा, ऊर्ध्वा इत्यादि बाहर की दिशाओं में सम्पूर्ण स्थान (Space) का समावेश है उसी प्रकार प्राची, दक्षिणा इत्यादि दिशाओं (लक्ष्यों) में सम्पूर्ण जीवन का समावेश है। यदि सरल शब्दों में अपने भाव को व्यक्त करना हो तो कहा जा सकता है कि जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति व विकास के लिये जिन दिशाओं में जीवन को चलाना आवश्यक है मनसा-परिक्रमा के मंत्रों में उन्हीं की सूचना है।

साधक की सबसे प्रथम दिशा प्राची है। 'प्राची' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। एक 'प्र' दूसरा 'अञ्चु्'।

, 'अञ्च्' धातु है। 'प्र' शब्द का अर्थ आगे बढ़ना व उत्कर्ष है। 'अञ्च्' धातु का अर्थ है गति करना। इस प्रकार 'प्राची' शब्द का अर्थ आगे बढ़ना व उन्नति की ओर गति करना है (to advance)। प्राची दिक् का अर्थ आगे बढ़ने व उन्नति की दिशा (direction of advancement and progress) है। जीवन की दौड़ में आगे बढ़ना, उन्नति के लिये प्रयत्न व पुरुषार्थ करना साधक अपना प्रथम लक्ष्य स्थापित करता है।

मनुष्य में आगे बढ़ने की महत्वाकांक्षा उठना स्वाभाविक है। जिस हृदय में यह महत्वाकांक्षा उत्पन्न नहीं होती और यह प्रार्थना व पुकार नहीं उठती "प्रथमं नो रथं कृधि" (ऋग्वेद ८.१०.५) "हे प्रभो ! मेरे जीवन रथ को आगे कर दो" वह जीवन शून्य है जो उठता नहीं, जिसकी दिशा प्राची नहीं, जो आगे बढ़ने का संकल्प नहीं करता, वह अग्नि–अग्रणी भगवान् की–क्या उपासना करेगा ? सच्ची उपासना कर सकने के लिये, प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ते हुए जीवन की दौड़ में आगे बढ़ने के लिये, साधक अनथक प्रयत्न व पुरुषार्थ करना अपना प्रथम प्रण निर्धारित करता है।

भक्ति का दम्भ करने वाला व्यक्ति भक्ति के इस स्वरूप को देख भयभीत हो उठेगा। वह पूछ उठेगा कि भक्ति का अनथक प्रयत्न व पुरुषार्थ से क्या सम्बन्ध ? भक्ति का

स्वरूप हम तो समझे थे हाथ पैर हिलाना बन्द करना और किसी एकान्त कोने में बैठकर भगवान् के नाम की माला फेरना; और भक्ति का प्रयोजन समझे थे आशुतोष भगवान् के सामने नैवेद्य चढ़ाकर रोज़मर्रा के पापों के लिये माफ़ी मांगते रहना।

भक्ति का स्वरूप सामान्य रूप से कुछ ऐसा ही समझा जाता रहा है। वस्तुतः भक्ति का यह स्वरूप नहीं और यह प्रयोजन नहीं। जिसे भक्ति समझा जा रहा है वह भक्ति नहीं, निष्कर्मण्यता है, भक्ति के रूप को समझने में कुछ मौलिक भूल है, इसीलिये भगवद्भजन में बैठे भक्त को जब आह्वान किया जा रहा है और कहा जा रहा है 'उठ तेरी दिशा प्राची है—आगे बढ़ना व उन्नति करना तेरा प्रथम लक्ष्य है,' तो कुछ असंगत तथा अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है।

भक्ति के स्वरूप का विस्तार से विवेचन करने का यह अवसर नहीं। यदि अत्यन्त संक्षेप से कहना हो तो कहा जा सकता है कि वैदिक धर्म के अनुसार जीवन कर्मक्षेत्र है। वेद भगवान् की आज्ञा है "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।" ए मनुष्य! तू कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।" वेद के अनुसार तो कर्महीन होकर संसार में जीवित रहने की इच्छा करने का भी मनुष्य को अधिकार नहीं। महात्मा तुलसीदास भी इसी स्वर में अपना स्वर मिला

कर कह रहे हैं "कर्म प्रधान विश्व रचि राखा" संसार कर्म-भूमि है। ज्ञान की आवश्यकता तो इस लिये है कि व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश में अपने कर्म (कर्तव्य) को ठीक प्रकार समझ सके। भक्ति का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति उस असीम के साथ सम्बन्ध जोड़ कर अपने कर्म के लिये असीम शक्ति व बल प्राप्त कर सके। वैदिक धर्म के अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति का यह समन्वय है।

साधक की दिशा प्राची है। प्राची दिशा का अधिपति 'अग्नि' है। आगे की ओर बढ़ने के, उत्कर्ष की ओर जाने के, लक्ष्य का आदर्श अग्नि है। अग्नि नाम परमेश्वर का है। वेद ने स्वयं कहा है "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु. ३२. १) अग्नि का अर्थ करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य्य लिखते हैं— 'अग्निःकस्मात्? अग्रणीः भवति' (निरुक्त ७. १४) परमात्मा अग्नि है क्योंकि वह अग्रणी है। सब से आगे रहने से और सब को आगे ले चलने से परमात्मा का नाम 'अग्नि' है। परमात्मा ज्ञान बल इत्यादि गुणों की पराकाष्ठा है। वह अन्तिम सीमा है जहां तक कोई बढ़ सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध तथा दयानन्द इत्यादि महापुरुष अग्नि अग्रणी हैं। परन्तु परमात्मा परम अग्नि है। वह अग्रणियों में अग्रणी है। परमात्मा के इस अग्नि स्वरूप को साधक अपने आगे बढ़ने के लक्ष्य में आदर्श बनाता है।

जैसा परमात्मा अग्नि—अग्रणी है, वैसा साधक भी अग्नि-जीवन की दौड़ में सब से प्रथम- होना चाह रहा है।

साधक प्राची दिशा की ओर अपने कदम उठा रहा है। अग्निस्वरूप परमेश्वर के समीप उसके पहुंचने का लक्ष्य है। रास्ता बड़ा लम्बा है। पथिक पाथेय* की पोटली बांध लेना भूला नहीं है इसलिये ज़रा निश्चिन्त है। जब चलते चलते थक जावेगा और भूख से व्याकुल हो उठेगा तो कुछ देर बैठकर सुस्ता लेगा और अपनी पोटली खोल कर कुछ खा लेगा। पथिक के शरीर में पुनः जीवन का संचार हो जायगा, अपनी यात्रा की मंजिल पर पहुंचाने के लिये शरीर में फिर बल उत्पन्न हो जायगा। पथिक फिर कदम बढ़ायेगा। इस लम्बे रास्ते को तै करते हुए यह पाथेय की पोटली ही तो पथिक का सहारा व एकमात्र आसरा है।

प्राची दिशा में चल रहे ऐ पथिक ! तेरी पाथेय की पोटली में है क्या ? उत्तर मिला 'असितो रक्षिता' बन्धनरहित होने के भाव को मैं अपनी गांठ में बांधे लिये जाता हूँ। आगे बढ़ने के लक्ष्य में बन्धनरहित होने का भाव ही तो रक्षक है। बन्धनों में उलझा कि आगे बढ़ना असम्भव हो जायगा।

प्रश्न होता है कि बन्धन कौनसे हैं जो कि जीवन की दौड़ में बढ़ते हुए मनुष्य को उलझाने वाले हैं ? संसार में

* पाथेय = पथि साधुः, सम्बल।

सबसे बड़े बन्धन विषय हैं। बुद्धिमान पुरुष देखता है कि विषयों में बन्धन की वह ताक़त है जो मोटे से मोटे सन के रस्से में नहीं, और मजबूत लोहे की जंजीरों में नहीं। विषय शब्द का अर्थ—"विशेषेण सिनन्ति बध्नन्तीति विषयाः" जो अच्छी प्रकार से बांधें—स्पष्ट रूप से बता रहा है कि विषयों से बढ़ कर कोई बन्धन नहीं। उत्कर्ष के लिये यत्नशील व्यक्ति को विषय किस प्रकार बन्धन में डालते व विनाश की ओर ले जाते हैं इसका भगवान कृष्ण गीता में सुंदर वर्णन करते हैं:—

"ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति संमोह। संमोहात् स्मृतिविभ्रमः
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"

(गीता० अ० २-६२, ६३)

अर्थात्—विषयों के बार बार चिन्तन से उनके प्रति चाहना पैदा होती है, इच्छा में रुकावट होने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से संमोह (Delusion) होता है, संमोह से स्मृति में गड़बड़ी (Confusion) हो जाती है, स्मृति में गड़बड़ी हो जाने से विवेक का नाश होता है। विवेक नाश से व्यक्ति का विनाश होता है।

विषयों का चिन्तन विनाश की ओर ले जाता है इसका कैसा सुंदर चित्र खेंचा गया है।

अरे साधक क्या तेरी प्राची दिशा है? प्रगति करना क्या तेरा प्रण है? तेरा मार्ग कठिन और कंटकाकीर्ण है। तुझे सुखों को छोड़ना होगा, पग पग पर लड़ना होगा, प्रतिकूल परस्थितियों को झुकाना होगा। तुझे प्रेरणा (Inspiration) कहां से मिली? उत्तर मिलता है 'आदित्या इषवः' आदित्य ब्रह्मचारी व सच्चे-विद्वान् पुरुष प्रेरक हैं जिन्होंने विषयों पर विजय प्राप्त की है और ज्ञान की ज्योति से जो चमक रहे हैं ऐसे आदित्य पुरुषों के (Sublime life) उच्च जीवन से ही इस कठिन पथ पर चलने की प्रतिक्षण प्रेरणा (Inspiration) पाता हूं। जब मैं मार्ग-भ्रष्ट होता हूँ तो यही आदित्य पुरुष अपनी जीवन ज्योति से मुझे पथ प्रदर्शन करते हैं। जब संशयाकुल होता हूँ मेरे पथ को अन्धकार आ घेरता है तो यही सच्चे विद्वान् अपने ज्ञान के प्रकाश से मेरे पथ को आलोकित करते हैं।

मेरे जीवन के आदर्श हे अग्रणी भगवान्! तुझे मेरा भक्ति भरा प्रणाम, मुझे अपनी ओर आकर्षित करते रहना। मेरे रक्षक तथा सहायक बन्धन रहित होने के भाव! तुझे नमस्कार, मुझे दृढ़ बनाते रहना। अपने जीवन तथा ज्ञान की ज्योति से अज्ञान के अन्धकार को मिटाने वाले हे सच्चे

विद्वानों ! तुम्हें मेरा नमस्कार, मुझे प्रेरणा देते रहना, पथ-प्रदर्शन करते रहना।

साधक को चलते चलते याद पड़ी, मेरे दुश्मन भी हैं। हाथ में पड़ी चूड़ियां खटकती ही हैं. साथ पड़े बर्तनों में खट खट होती ही है, फिर साथ चलते जीवित प्राणियों में बज उठना कौन बड़ी बात है। दुश्मन रोड़े अटकावेंगे, पग पग पर रुकावट डालेंगे। जब तक दुश्मनों पर विजय प्राप्त नहीं की तब तक आगे एक कदम भी बढ़ाना सम्भव नहीं।

स्मरण हुआ कि सब से बड़ा दुश्मन जिस पर विजय प्राप्त करनी है वह तो स्वयं द्वेष भाव है। इसी दुश्मन के फुसलाने से वह दूसरों से द्वेष करता है। और दूसरे उससे द्वेष करते हैं। दुश्मनों पर सच्ची विजय पाने का तब यही उपाय प्रतीत हुआ कि इस द्वेष भाव को मिटा डाले। साधक तब कह उठा—"योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः" जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उस द्वेष भाव को तेरे जबड़े में रखते हैं।

सर्व संहारक प्रभु के जबड़े में जाकर द्वेष भावों का विनाश होना निश्चित है। जब द्वेष भाव ही न रहा तो साधक द्वेष कैसे कर सकेगा। यह समझते हुए कि द्वेष से द्वेषाग्नि बढ़ती है साधकने अपने द्वेष का अन्त कर डाला तो उससे कोई द्वेष कैसे कर सकेगा। सच्चा प्रेम तो पत्थर हृदय को भी पिघला

सकता है। अहिंसा का अस्त्र तो दुश्मनों को दोस्त बना देने की शक्ति रखता है। महर्षि पतञ्जलि योग दर्शन में इसी पवित्र पाठ को कहते हैं:—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सान्निधौ वैरत्यागः"

(योग. २. ३५)

अर्थात्—'मन वचन कर्म से अहिंसा व्रत धारण कर लेने पर उसके निकट सब वैर का त्याग कर देते हैं' कहने का मतलब यह कि अहिंसा और प्रेम नये और स्वर्गीय संसार को खड़ा करने की अद्भुत शक्ति रखते हैं। दुश्मन को पीस डालने में नहीं, अपितु उसके द्वेष भाव को निकाल डालने में सच्ची वीरता है। शानदार विजय यह है कि दुश्मन निन्दा को छोड़ कर हमारी प्रशंसा के गीत गाने लगे। यह कैसी आनन्दमय अवस्था है? इस अपूर्व और सुन्दर विजय पाने का एकमात्र उपाय अपने द्वेष भाव को भस्म कर डालना है। हृदय को प्रेम से भर लेना है। मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसा में प्रतिष्ठित हो जाना है। भगवान् बुद्ध का वचन है:—

"न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तिध कुदाचनं
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो"

(धम्मपद. १. ५)

अर्थात्—वैर से वैर कभी नहीं जाता। मित्रता से वैर चला जाता है। यही सनातन धर्म है।

प्राची दिशा में चल रहे ऐ पथिक ! यदि तूनें अपने द्वेष भाव को मिटा लिया तो तेरी दुश्मनों पर विजय है। आगे आगे कदम बढ़ाते जा, अगर तुझे अपने उच्च आदर्श का आठों पहर ध्यान है, और विषयों के बन्धनों में उलझाने वाले राग-द्वेष पर तूने विजय प्राप्त की है, तो विश्वास रख, सफलता तेरे चरण चूमेगी।

मनसा परिक्रमा का दूसरा मंत्र

ओं दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपति
स्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽस्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ।

(अथर्व ३.२७.२)

शब्दार्थ—

(दक्षिणा) समृद्ध अथवा ऐश्वर्यवान् होने की (दिक्) दिशा है। उस दिशा में (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् प्रभु (अधिपतिः) आदर्श है (तिरश्चिराजी[1]) मर्यादा अतिक्रमण न करने अथवा कुटिल चाल पर शासन करने का भाव रक्षा करने वाला है (पितरः) दूसरों का पालन पोषण करने वाले अनुभवी बुज़ुर्ग (इषवः) प्रेरक हैं। शेष मंत्र का अर्थ पूर्व मंत्र के समान है।

व्याख्या—

साधक के दिल में महत्वाकांक्षा पैदा हुई। वह आगे बढ़ा, अपनी शक्तियों का प्रयोग किया, प्रतिकूल परिस्थितियों से लड़ता रहा, परिणामतः अपनी सीमित, दरिद्र और सामान्य अवस्था से ऊपर उठा, समृद्ध हुआ और नाना प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करने लगा। ज्ञान के क्षेत्र में बढ़ा, ज्ञान का अनुपम ऐश्वर्य उपलब्ध हुआ। बल में, धन में, तप में, तात्पर्य यह कि जिस जिस क्षेत्र में बढ़ा उस उस क्षेत्र के

---

१. तिरश्चिराजी = शब्द तीन शब्दों के मेल से बना है। 'तिरस्' शब्द का अर्थ है टेढ़ी, 'अञ्चु' का अर्थ है गति, और 'राज्' धातु का अर्थ है शासन करना। इसलिये 'तिरश्चिराजी' का अर्थ टेढ़ी चाल पर शासन करना होता है। अथवा 'तिरस्' का अर्थ है 'बीच में से' (through) अञ्च् का अर्थ है गति (to move) और 'राजि' का अर्थ है 'पंक्ति व मर्यादा (line)। इस प्रकार 'तिरश्चिराजी' शब्द का अर्थ हुआ पंक्ति व मर्यादा में चलना।

अद्भुत ऐश्वर्य प्राप्त होने लगे। साधक की दिशा अब दक्षिणा[1] है। वह समृद्ध हो रहा है, नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त कर रहा है।

दक्षिण दिशा का अधिपति 'इन्द्र' है। समृद्ध होने के-ज्ञान, बल तथा लौकिक ऐश्वर्य प्राप्त होने के-लक्ष्य का आदर्श इन्द्र है। इन्द्र नाम परमेश्वर का है। महर्षि ने 'इन्द्र' शब्द का अर्थ करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"यः इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः" परमात्मा परम ऐश्वर्य से पूर्ण है इसलिये उसका नाम 'इन्द्र' है। प्रभु सब प्रकार के ऐश्वर्यों के अक्षय भण्डार हैं। वे अपने ऐश्वर्यों को इस जगती तल पर अनवरत रूप से बखेर रहे हैं। संसार के बड़े से बड़े ऐश्वर्यशाली पुरुष परमात्मा के ऐश्वर्य की अनन्त वृष्टि के एक अंश को लेकर ऐश्वर्यशाली कहाये जा रहे हैं। सब ऐश्वर्यों का प्रवाह परमात्मा से हो रहा है इसका ऋग्वेद में क्या ही सुन्दर वर्णन है:—

त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः।

(ऋग्वेद ६.१३.१)

अर्थात्—हे परमात्मन्! हे सुन्दर ऐश्वर्यसम्पन्न! जैसे वृक्ष से शाखायें निकलती हैं, उसी प्रकार सब सुन्दर ऐश्वर्य तुमसे ही विविध प्रकार से निकलते हैं।

---

१. दक्षिणा शब्द दक्ष् धातु से बनता है जिसका अर्थ है समृद्ध होना।

परमात्मा इन्द्र है, परम ऐश्वर्यवान् है। साधक परमात्मा के इस इन्द्र रूप को अपने ऐश्वर्य प्राप्त करने के लक्ष्य में आदर्श बनाता है। जैसा परमात्मा इन्द्र है–परम ऐश्वर्य-वान् है–वैसा साधक भी होना चाह रहा है।

साधक दक्षिण पथ पर अपने कदम उठा रहा है। इन्द्र स्वरूप परमात्मा के समीप उसने पहुंचना है। मार्ग बड़ा दुर्गम और मादक है। पग पग पर इस मार्ग से पगदण्डियाँ फटती हैं। ये टेढ़ी सुन्दर और सजीली पगदण्डियाँ मार्ग की मादकता से मत्त हुए पथिकों को पथभ्रष्ट करने में सहायक हैं। साधक साथ में औषध की झोली ले चलना भूला नहीं है इसलिये ज़रा निश्चिन्त है, जब मार्ग की मादकता अपना असर करेगी वह अपनी झोली खोलकर कुछ औषध का सेवन कर लेगा। साधक फिर सचेत हो जायगा और अपनी यात्रा की मंज़िल पर पहुंचने के लिये धीरे पर सावधानी से कदम उठायेगा। इस सुन्दर पर मादक रस्ते को तै करते हुए यह औषध की झोली ही तो पथिक का सहारा व आसरा है।

अरे दक्षिण पथ पर चल रहे पथिक ! तेरी औषध की झोली में है क्या ? उत्तर मिला "तिरश्चिराजी रक्षिता" टेढ़ी चाल पर शासन अथवा मर्यादा के अतिक्रमण न करने के भाव को मैं अपनी गांठ में बांधे लिये जाता हूं। इन्द्र के

समीप पहुंचने के लिये, परम ऐश्वर्य के प्राप्त होने के आदर्श में तिरछी चाल से बचना व मर्यादा का अतिक्रमण न करने का भाव ही तो रक्षक है। टेढ़ी पगदण्डियों पर चलना शुरु किया मर्यादा का उल्लंघन किया कि परमेश्वर प्राप्त होना असम्भव हो गया।

ऐश्वर्य में मादकता है। इस मादकता से उन्मत्त हुआ मनुष्य कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाता है। मान, मत्सर इत्यादि टेढ़ी वृत्तियाँ उसके हृदय में उदित हो जाती हैं। इन टेढ़ी वृत्तियों के उदय हो जाने पर चाल भी टेढ़ी हो जाती है। ऐश्वर्य की मदिरा से उन्मत्त हुआ मनुष्य दरिद्रों का तिरस्कार करता है। गरीबों पर हाथ उठाता है। मर्यादा का उल्लंघन करता है। जिस हृदय में ऐश्वर्य न समा पाया, परमैश्वर्यवान् प्रभु के ऐश्वर्य के एक कण को पाकर जिस हृदय से अहंकार उमड़ पड़ा, उस हृदय में इन्द्र का अतुल और अत्यन्त ऐश्वर्य कैसे समा सकेगा? जो इन्द्र स्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण प्राणिमात्र के लिये दोनों हाथों से ऐश्वर्य बखेर रहा है। जो परमैश्वर्यवान् होता हुआ भी अपने राजकीय सिंहासन से उतर कर अपने प्रजा जन में रमण कर रहा है उस इन्द्र से यह अहंकारी मनुष्य– जो उसकी प्रजा से आँख फेरता है– क्या मिल पावेगा? कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर अपनी Gitanjali में लिखते हैं:—

"Pride can never approach to where thou walkest in the clothes of the humble among the poorest, and lowliest and lost." अर्थात् "अहंकार की वहां पहुंच नहीं जहां दीनातिदीन, नीचातिनीच और नष्ट भ्रष्टों के बीच में तू विचरता है।

जो हृदय गम्भीर है, जो इन्द्र के अतुल ऐश्वर्य को पाकर भी अहंकार से उमड़ पड़ा नहीं उस हृदय में ही परमेश्वर का अनन्त ऐश्वर्य समा सकेगा। ऐश्वर्य के ऊंचे ढेर से जिसका आदर्श ओझल नहीं हुआ वही अपने लक्ष्य पर पहुंच पायेगा। अनन्त ऐश्वर्य पाकर भी जिसका हृदय विनीत है, जिसका चलन सीधा और सरल है, जो यह अनुभव करते हुए कि सब ऐश्वर्य उस इन्द्र का ही है, उसे उसकी प्रजा में वितरण कर देता है वही उन दीनातिदीनों के मध्य में विद्यमान उस इन्द्र के चरणारविन्दों को स्पर्श कर सकेगा।

अरे साधक! तेरी दिशा क्या दक्षिण है? परमैश्वर्य प्राप्त करना क्या तेरा प्रण है? तेरा मार्ग कठिन कंटकाकीर्ण है। तुझे अनासक्त होना होगा, सदा सचेत रहना होगा। पग पग पर मान, मद, मोह, मत्सर इत्यादि दुश्मनों से लड़ना होगा। तुझे साहस कैसे हुआ? इस दुर्गम पथ पर चलने की प्रेरणा कहां से मिली? उत्तर मिला– 'पितर इषवः' दूसरों का पालन पोषण करने वाले अनुभवी व वयोवृद्ध पुरुष प्रेरक हैं जिन्होंने टेढ़ी वृत्तियों पर विजय

प्राप्त की है। जिनका ऐश्वर्य प्रजा के पालन पोषण तथा परोपकार में लग रहा है उन पितर पुरुषों के उच्च जीवन Sublime life से इस कठिन पथ पर चलने की प्रतिक्षण प्रेरणा inspiration पाता हूं। जब मैं मार्ग भूलता हूं तो यही पितर लोग अपनी जीवनज्योति से मुझे पथप्रदर्शन करते हैं। जब मैं संशयाकुल होता हूं, जब अन्धकार मेरे पथ को आ घेरता है, तब यही वयोवृद्ध विद्वान् अपने अनुभव के आलोक से मेरे पथ को आलोकित करते हैं।

मेरे जीवन के आदर्श हे इन्द्रस्वरूप भगवान्! लो मेरा भक्ति भरा प्रणाम, अपनी ओर मुझे आकर्षित करते रहना। मेरे रक्षक तथा सहायक टेढ़ी चाल से बचने व मर्यादा के अतिक्रमण न करने के भाव! तुझे नमस्कार। मुझे दृढ़ करते रहना, टेढ़ी वृत्तियों से सदा बचाते रहना। अपने अतुल ऐश्वर्य से प्रजा का पालन पोषण करने वाले हे अनुभवी बुजुर्गो! तुम्हें मेरा नमस्कार, मुझे प्रेरणा देते रहना, पथ-प्रदर्शन कराते रहना!

मनसा परिक्रमा का तीसरा मन्त्र

ओं प्रतीची दिग्वरुणो ऽधिपतिः
पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो
अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं
द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥

(अथर्व ३, २७, ३)

शब्दार्थ—

(प्रतीची) पीछे लौटने की, ऐश्वर्य से पराङ्मुख व वैराग्य की (दिक्) दिशा है। इस दिशा में (वरुण,) वरणीय व सर्वश्रेष्ठ प्रभु (अधिपतिः) आदर्श है। (पृदाकू) विषयों में सर्प का भाव (रक्षिता) रक्षक है। (अन्नं)* विषयों पर विजय प्राप्त करनेवाले अन्न संज्ञक पुरुष (इषवः) प्रेरक हैं। शेष पूर्ववत्।

व्याख्या—

प्राची तथा दक्षिण दिशा का परिक्रमण हो चुका, अब प्रतीची दिशा का परिक्रमण है। साधक आगे बढ़ा। ऐश्वर्य प्राप्त किया। अब अनासक्त होने का पाठ आरम्भ होता है।

साधक जिस ६ मनकों की माला फेर रहा है उसके तीसरे मनके का नाम 'प्रतीची' है। प्रतीची शब्द दो शब्दों के मेल से बना है, एक 'प्रति' दूसरा 'अञ्च्'। 'प्रति' उपसर्ग है 'अञ्च्' धातु है। 'प्रति' शब्द का अर्थ है पीछे मुड़ना व लौटना। 'अञ्च्' धातु का अर्थ है गति करना। इस प्रकार प्रतीची शब्द का अर्थ हुआ पीछे की ओर गमन करने की दिशा।

---

*अन्नं—अन्न शब्द अद् भक्षणे धातु से बना है। 'अद्यते अत्ति च भूतानि तस्मादन्न तदुच्यते" (तैत्तिरीयोपनिषद्) अर्थात् जो खाया जाता है वह अन्न है और जो भूतों अथवा विषयों को खाता है वह भी अन्न है।

साधक ने ऐश्वर्य देखा, अब वह प्रतीची–पराङ्-मुख होने, विरक्त व अनासक्त होने–को अपना लक्ष्य निर्धारित करता है। ऐश्वर्य अत्यन्त आकर्षक है इसलिए ऐश्वर्य की ओर गति का पाठ पढ़ते हुए विरक्ति व अनासक्ति का पाठ पढ़ना भी अत्यन्त आवश्यक है। जो ऐश्वर्य में अनासक्त नहीं, वह वरुण की क्या उपासना कर पायगा! वरुण की उपासना के लिए–वरणीय का वरण करते करते वरुण होने के लिये तो विरक्त होना आवश्यक है।

साधक की दिशा प्रतीची है। प्रतीची दिशा का अधिपति 'वरुण' है। वरुण नाम परमात्मा का है। वेद ने स्वयं कहा है:—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः"।

'वरुण' शब्द वृञ् धातु से बना है। "यः शिष्टैः मुमुक्षुभिः धर्मात्मभि र्व्रियते स वरुणः परमेश्वरः।" जो शिष्ट मुमुक्षु और धर्मात्माओं से वरण किया जाता है वह ईश्वर 'वरुण संज्ञक है। अथवा "वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः" सबसे श्रेष्ठ होने के कारण भी परमात्मा का नाम 'वरुण' है। परमात्मा के इस वरुण स्वरूप को साधक अपनी पीछे लौटने व वैराग्य

की दिशा का आदर्श स्थापित करता है। जैसा परमात्मा वरुण-वरणीय व सर्वश्रेष्ठ–है वैसा साधक भी होना चाह रहा है।

प्रतीची दिशा का अधिपति वरुण कैसे, पीछे की ओर लौटने अथवा विरक्त होने के लक्ष्य का आदर्श वरुण परमात्मा कैसे यह स्पष्ट करना आवश्यक है।

प्रभु के गुणों का वरण-स्वीकार करते करते ही साधक वरुण सर्वश्रेष्ठ हो सकेगा। वरुण के गुणों के वरण कर सकने के लिये उसके गुणों की ओर झुकाव होना चाहिए। यह झुकाव असम्भव है, जब तक चित्त नदी का प्रवाह ऐश्वर्य, सांसारिक पदार्थ व विषयों की ओर है। विषयों की ओर बहती हुई चित्त नदी के प्रवाह को रोकने से ही वरुण भगवान् के पवित्र गुणों की ओर हमारा झुकाव व आकर्षक हो सकेगा। विषयों की ओर बहती हुई चित्त नदी के प्रवाह को रोकने व लौटाने का नाम ही तो प्रतीची–प्रतिगमन व परावृत्त होना है। यही वैराग्य है। कपड़े रंग कर लाखों साधुओं की गिनती बढ़ाने का नाम वैराग्य नहीं। महर्षि पतञ्जलि वैराग्य का लक्षण करते हुए लिखते हैं—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।"

(योगदर्शन १.१५)

अर्थात् लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों से पराङ्मुख होकर व तृष्णा (Attachment) हटा

कर मन को वश में करना वैराग्य कहाता है।" विषयों से परावृत्त होने पर ही आत्मा को भगवान् के गुणों के वरण करने का अवसर प्राप्त होता है। इस सुअवसर के प्राप्त होने पर आत्मा भगवान् के गुणों का निरन्तर वरण करते करते एक दिन 'वरुण' हो सकेगा।

इस उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि वरुण होने के आदर्श को प्राप्त करने के लिये प्रतिगमन वा परावृत्त होना आवश्यक है पूर्ण रूप से विरक्त व परावृत्त होने पर पूर्ण रूप से भगवान् के गुणों का वर्णन हो सकेगा। विषयों से परावृत्त होते होते साधक वरुण के समीप पहुंचता जायगा। इस लिये प्रतीची दिशा का अधिपति वरुण है, अथवा पराङ्मुख व वैराग्य के लक्ष्य का आदर्श वरुण परमात्मा है।

विषयों से पराङ्मुख होना अत्यन्त कठिन है। विशेष कर तब जब अतुल ऐश्वर्य से घर भरा हो, विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले सुख का आस्वादन किया हो। ऐश्वर्य के उदय में सुख के प्रभाव में और चढ़ती जवानी में, विषयों से विरक्त होना किसी विरले व्यक्ति का ही काम है। इन्द्र के आराधन के लिये कठोर तपस्या करते हुए अर्जुन के प्रति वृद्ध-वेषधारी इन्द्र ने ठीक ही कहा था:—

"त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः
ह्रियन्ते विषयैः प्रायो वर्षीयांसोऽपि मादृशाः

(किरातार्जुनीयम्. ११. १०)

अर्थात्—ऐ अर्जुन ! यौवन में तपश्चर्या प्रारम्भ करके तूने ठीक ही किया है। मेरे जैसे बूढ़े पुरुषों को भी विषय अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

सुख की सब सामग्री के उपस्थित होने पर विषयों से विमुख होना सतत साधना तथा अभ्यास चाहता है। इस साधना के कठिन पथ पर चलने के लिये आवश्यक यह है कि साधक विषयों के दोषों की विवेचना करे। विषयों के दोषों के सम्यक् विवेचना से ही वैराग्य की ओर प्रवृत्ति हो सकती है इस लिये मंत्र में कहा है:—"पृदाकू रक्षिता" विषयों में विषधर सर्प का भाव रक्षक है। अरे प्रतीची दिशा में चल रहे पथिक ! अपनी गांठ में इस भाव को बांध ले प्रतीची दिशा में चलते हुए—विषयों से विरक्त व विमुख होने के लक्ष्य में विषयों में विषधर (सर्प) की भावना ही तो रक्षक व सहायक है। जब सतत विवेचन से यह भावना दृढ़ तथा उग्र होगी तब मनुष्य विषयों से वैसे ही बचेगा जैसे वह सांप बिच्छु इत्यादि विषैले जन्तुओं से बचता है।

विषयों में विषधर (सांप) की भावना विषयों के दोषों की सतत और सम्यक् विवेचना का परिणाम है। हमारे

संस्कृत साहित्य में विषयों की स्थान स्थान पर सांप से तुलना की गई है। महाराजा 'भर्तृहरि' ने जिन्होंने यौवनकाल में ही राज-पाट का त्याग किया और जङ्गल की राह ली अपनी "वैराग्यशतकम्" पुस्तक में विषयों की सांप से तुलनाकी है।—

"सखे धन्याः केचिद् त्रुटितभवबन्धव्यतिकराः
अचिन्वन्तोऽरण्ये मनसि विषयाशीविषगतिम्"

अर्थात्—हे मित्र धन्य हैं वे पुरुष जिन्होंने संसार के बन्धन का सम्बन्ध तोड़ दिया है, और जो मन में विषय रूपी सर्प की गति नहीं खोजते हैं।"

विषयों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये इन्हें सर्प के सिवाय और क्या कहा जा सकता है, विषयों का बाह्य रूप सुन्दर है, चमकीला है, आकर्षक है, परन्तु यह भी सत्य है कि ये सांप के समान ही डसने वाले हैं। जरा विचारो तो मालूम पड़ता है कि सांप व किसी भी विषैले जन्तु का भयंकर से भयंकर विष विषयों का मुकाबला करने में असमर्थ है। किसी ने विष और विषय की क्या ही सुन्दर तुलना की है:—

"विषस्य विषयाणां च दूरमत्यन्तमन्तरम्'
उपभुक्तं विषं हन्ति विषयाः स्मरणादपि"

अर्थात्—विष और विषय का परस्पर क्या मुकाबला दोनों की शक्ति में बड़ा अन्तर है क्योंकि विष तो खाने पर ही मारता है परन्तु विषय तो स्मरण मात्र से मनुष्य को मारने वाले हैं।" भगवान् कृष्ण ने भी विषयों से प्राप्त होने वाले सुख को परिणाम में विष रूप ही कहा है:—

"विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्"

अर्थात्—विषयों और इन्द्रियो के संयोग से जो सुख आरम्भ में अमृत के समान प्रतीत होता है और परिणाम में विष के समान वह राजस है:—

अरे साधक तेरी दिशा क्या प्रतीची है ? विषयों से विमुख होने का क्या तेरा प्रण है ? तेरा मार्ग अत्यन्त कठिन है। तुझे सुखों को छोड़ना होगा, पग पग पर लड़ना होगा, प्रलोभनों का मुकाबला करना होगा। तुझे साहस कैसे हुआ ? इस दुर्गम पथ पर चलने की प्रेरणा (inspiration) कहां से मिली ? उत्तर मिला—"अन्न मिषव"। विषयों को खाने वाले अन्न संज्ञक पुरुष प्रेरक हैं। अन्न शब्द का अर्थ "अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते" जो खाया जाता है वह अन्न है और जो भूतों अथवा विषयों को

खाता है वह भी अन्न है। यहां हमें अन्न शब्द का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है।

संसार में दो प्रकार के व्यक्ति हैं एक तो वह जिन्हें विषय खाते हैं और दूसरे वह जो विषयों को खाते हैं। दूसरे शब्दों में एक वह मनुष्य हैं जिन्हें विषय सताते हैं और दूसरे वह जो विषयों पर विजय पाते हैं। विषयों पर विजय पाने वाले व्यक्ति अन्न संज्ञक हैं। उदाहरणार्थ—राजा जनक का नाम लिया जा सकता है। वह मिथिलापुरी का राजा है। त्रिलोकी का ऐश्वर्य उसके चरणों में पड़ा है। हज़ारों व्यक्ति उसके सम्मुख हाथ जोड़े खड़े हैं। यह सब होते हुए भी वह विरक्त है। उसे मोह नहीं, आसक्ति नहीं, कोई लालसा नहीं। वह पूर्ण सचाई के साथ कह सकता है—

'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दह्यति किंचन'

अर्थात्–"सारी मिथिलापुरी जल जाय तो भी मेरा कुछ जलता नहीं।" मोह–व ममताशून्यता की यह चरम सीमा है। भोगों का उपभोग करते हुए भोगों का यह पूर्ण त्याग है। विषयों में रहते हुए विषयों पर यह पूर्ण विजय है। इसीलिए संसार का त्याग चाहने वाले हज़ारों ऋषि, सच्चे वैराग्य तथा अध्यात्म विद्या का पाठ पढ़ने को उसके चरणों में बैठे हैं। वह राजर्षि है, मन्त्र के शब्दों में वह अन्न पुरुष है ऐसे ही

पुरुष वैराग्य के पथ में बढ़ रहे नवीन साधक को पथप्रदर्शन करते हैं। अपने उच्च जीवन से प्रतिक्षण प्रेरणा (inspiration) दे पाते हैं।

राजर्षि जनक का उदाहरण यह भी बता रहा है कि प्रतीची दिशा में पग बढ़ाने के लिए कपड़े रंगने व गृहत्याग की आवश्यकता नहीं। मन में वैराग्य होना चाहिये फिर तो घर ही तपोवन हो जाता है:—

वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्माणि यः प्रवर्त्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥

अर्थात्—'जिन पुरुषों के हृदयों में विषयों के प्रति राग बसा हुआ है उनको वन में भी दोष आ घेरते हैं। घर में भी पंचेन्द्रिय के निग्रह का तप हो सकता है, जो पुरुष शुभ कर्म में प्रवृत्त होता है ऐसे राग रहित पुरुष का घर ही तपोवन है।

शेष मंत्र भाग की व्याख्या की जा चुकी है।

मनसा परिक्रमा का चतुर्थ मन्त्र

ओं उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः
स्वजो रक्षिताऽशनि रिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो
अस्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं
द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥

(अथर्व २७.४)

शब्दार्थ—

(उदीची) ऊपर मुंह उठाने की अथवा शान्ति के अन्वेषण की (दिक्) दिशा है । इस दिशा में (सोमः१) सोमरूप भगवान् (अधिपतिः) आदर्श है (स्वजः२) शान्ति का जन्म आत्मा से है यह भाव (रक्षिता) रक्षक है । (अशनिः३) जो आत्मा को प्राप्त कर चुके हैं वे लोग (इषवः) प्रेरक हैं । शेष पूर्ववत् ।

व्याख्या

साधक ने विश्व का वैभव प्राप्त किया, पर वह आसक्त न हुआ । समय पर सचेत हुआ, वैराग्य की राह पकड़ी । वैराग्य व्रत का धारण वरुण के गुणों के वरण में सहायक हुआ । वरुण रूप प्रभु के प्रति प्रवणता का परिणाम

---

(१) सोमः—'षुञ् अभिषवे' धातु से सोम शब्द बनता है 'अभिषव' का अर्थ है रस निकालना ।

(२) स्वजः—'स्वस्मात् जायते इति स्वजः' अर्थात् जिसका जन्म आत्मा से है ।

(३) अशनिः—"अश्नाति भोगमित्यशः, अशं नयतीत्यशनिः" भोग का भोक्ता होने से आत्मा 'अशः' है । आत्मा की ओर जो मनुष्य गति करता है, तथा उसे प्राप्त करता है उसका नाम 'अशनिः' है ।

यह हुआ कि साधक का सूखा हृदय भीज उठा, वह अनुपम शान्ति अनुभव कर रहा है।

परिक्रमा करते करते साधक अब उदीची दिशा में पहुंचा है। उदीची शब्द 'उत्' पूर्वक 'अञ्च्' धातु से बना है। 'उत्' का अर्थ है ऊपर की ओर, 'अञ्च्' धातु का अर्थ है गति करना। इस लिए 'उदीची दिक्' का अर्थ हुआ ऊपर की ओर ले जाने अथवा मुंह ऊपर उठाने की दिशा।

सांसारिक वैभव से विमुख साधक ने वरुण की ओर मुंह उठाया। मेघ बरसा, एक नन्हीं सी बूंद साधक के मुख में पड़ी, उसका रोम रोम नाच उठा। जिसकी खोज में भटक रहा था, उसकी धुंधली झांकी मिली। विषयों का रस अब बेस्वाद और नीरस प्रतीत हुआ। जिसे अब तक वह सुनता था उसे अब समझ पाया है।

साधक अब तक अपना मुंह उठाए हुए है। जिस प्रकार प्यास से व्याकुल चातक आसमान की तरफ़ अपनी चोंच उठाता है, उसी प्रकार साधक भी अब ऊपर मुंह किए बैठा है। यह भूतल जल से प्लावित है शीतल और स्वच्छ जल की नदियां किलोलें करती हुई बह रहीं हैं, बड़े बड़े सागर और सरोवर जल से भरपूर पडे हैं, परन्तु चातक को इससे कोई प्रयोजन नहीं। भूलोक के जलों में उसकी तृष्णा ही नहीं उसे तो इस लोक के मधुर से मधुर जलों की अनुपादे-यता का ज्ञान है, इसलिए वह तो आसमान से गिरनेवाली

दो बूंद जल से ही अपनी प्यास बुझायेगा। साधक भी अब अनजान नहीं। इस लोक की वस्तुओं में, जो कि अपने सौन्दर्य और माधुर्य से मन को मोहित किया चाहती हैं उसका राग रहा ही नहीं। वह तो अब आकाश की दिव्य धाराओं से अपनी पिपासा शान्त करेगा। इसी लिए वह मुंह उठाए हुए है। जिस एक बूंद से उसका रोम रोम झूम रहा था उसी की तलाश में है। यह 'उदीची दिक्' है—मुंह ऊपर उठाने की दिशा है—अथवा शान्ति की खोज अब साधक का लक्ष्य है।

उदीची दिशा का अधिपति 'सोम' है। ऊपर मुंह उठाने के अथवा शान्ति के अन्वेषण के लक्ष्य का आदर्श सोम है। सोम नाम परमात्मा का है। 'सोम' शब्द षुञ् धातु से बनता है जिसका अर्थ है निचोड़ना अथवा रस निकालना। परमात्मा शान्ति का सरोवर है, भक्तों के हृदयों में वह शान्ति का रस निचोड़ रहा है, इसलिए उसका नाम 'सोम' है। परमात्मा के इस सोम रूप को साधक अपनी शान्ति पाने की दिशा का आदर्श स्थापित करता है। जैसा परमात्मा सोम है, शान्तिमय है, वैसा साधक भी होना चाह रहा है।

शान्ति की खोज में भटक रहे पथिक! मालूम है शान्ति कहां मिलेगी? सुना है सोम की तलाश में दूर जाना होगा, पहाड़ों की छानबीन करनी होगी, कन्दराओं का कोना कोना ढूंढ़ना होगा। उत्तर मिला—जरूरत नहीं। सोम 'स्वजः'

है। सोम का जन्म अन्दर से अथवा आत्मा से है। इसे ढूंढ़ने कहीं जाना नहीं पड़ता। स्वयं अपने भीतर झांकना है। सोम (शान्ति) स्वजः है, अपने अन्दर उपजने वाली है। यह भाव ही तो शान्ति की खोज में भटक रहे का आश्रय आशा व रक्षक है। सोम को बाहर खोजना शुरु किया कि युग युग के लिये इसे पाना असम्भव हो जायगा।

नासमझ समझता है कि सोम (शान्ति) कहीं बाहर है। इधर उधर ढूंढ़ता फिरता है, परन्तु विफल होता है। वह जिस ऐश्वर्य और वैभव के ढेर को शान्ति का साधन समझ अपने चारों ओर जुटाता है एक दिन वही उसे बन्दी बनाने के लिये कैदखाने की ऊंची दीवार बन जाता है। जिसे वह सुवर्ण का हार समझ छाती से चिपटाता है एक दिन वही उसके पैरों को जकड़ने के लिये लोहे की कठोर बेड़ी बन जाता है। वह स्वयं बन्दी बना है। अब अपने खड़े किये कैदखाने की अन्धेरी कोठरी में पड़ा चीखता और चिल्लाता है।

शान्ति कहीं बाहर नहीं, यह तो 'स्वजः' है। इसे पाने के लिये बाहर की दौड़ बन्द करनी होगी, अन्तर्मुख होना होगा, अपनी कलुष भावना और कामनाओं के पहाड़ को खोदना होगा। जब इस पहाड़ को खोदते खोदते रोम रोम से पसीने की धारा बह चलेगी तब स्वयं अन्तःकरण में शान्ति का स्रोत फूट पड़ेगा। साधक इस स्रोत के छींटों के शीतल स्पर्श

और आस्वादन से कृतकृत्य हो जावेगा। कृष्ण भगवान् भी शान्ति पाने का यही साधन बता रहे हैं:—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।

(गीता २.७१)

अर्थात्—"जो विषयों की सब कामनाओं को छोड़कर रागरहित होकर विचरता है, जो ममता और अहंकार की कलुषभावना को उखाड़ फेंकता है वह शान्ति प्राप्त करता है।"

वैदिक शब्दों में यह सोमपान है जिसके रहस्य को ब्रह्मवेत्ता उपासक लोग ही समझते हैं:—

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिपन्त्यौषधिम्
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः।

(अथर्व० १४.१३)

अर्थात्—नासमझ बूटी को पीसकर निचोड़ता है और समझता है मैंने सोमरस पी लिया। वह इस पृथ्वी का भोला व्यक्ति, उस सोम रस का आस्वादन कर नहीं पाता जिसका तत्व ब्रह्मवेत्ता लोग जानते हैं।"

अरे साधक! तेरी दिशा क्या उदीची है-शान्ति प्राप्त करना क्या तेरा प्रण है? तेरा मार्ग अत्यन्त कठिन है। तुझे साहस कैसे हुआ? इस दुर्गम पंथ पर चलने की तुझे

प्रेरणा कहां से मिली? उत्तर मिला—'अशनि रिषव:' जो आत्मा को प्राप्त कर चुके हैं वे लोग प्रेरक हैं। 'अशनि' शब्द दो शब्दों के मेल से बना है। 'अश्नातीति अश:' जो भोगों का भोग करता है वह 'अश:' अर्थात् आत्मा है। 'अशं नयतीति अशनि:'। जो आत्मा को प्राप्त करता है अथवा कराता है वह 'अशनि:' है। जो सोम की प्राप्ति के लिये आत्मा की ओर गति कर चुके हैं, जो शान्ति की तलाश में सोम के उत्पत्ति स्थान आत्मा तक पहुंच चुके हैं वे लोग 'अशनि' हैं। ऐसे ही पुरुष शान्ति की खोज में भटक रहे नवीन साधक को पथप्रदर्शन करते हैं तथा अपने उच्च जीवन जीवन से प्रतिक्षण प्रेरणा (inspiration) देते हैं।

शेष पूर्ववत्।

मनसा परिक्रमा का पञ्चम मंत्र

ओं ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः
कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्योऽस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ॥

(अथर्व० ३.२७.५)

शब्दार्थ:—

(ध्रुवा) स्थिरता की (दिक्) दिशा है। इस दिशा में (विष्णुः[१]) व्यापक परमात्मा (अधिपतिः) आदर्श है (कल्माषग्रीवः[२]) कार्य में प्रतिष्ठित होना जीवन है यह भाव (रक्षिता) रक्षक है (वीरुधः[३]) नीचे से ऊपर उठने वाले पुरुष (इषवः) प्रेरक हैं।

व्याख्याः—

प्रभु भक्ति का पथ निर्जन और नीरव है। यह तो जंगल की संकरी पथरीली पगदण्डी है। इसके दोनों ओर न दुकानों की सजावट है, न रौनक है और न जी बहलाने का कोई और साधन है। आरम्भ में यह शुष्क और नीरस भी है। कोई विरला व्यक्ति ही विवेक और वैराग्य के उदय होने से इस कण्टकाकीर्ण पगदण्डी को चुनता है।

साधारण लोग सुख चैन में मस्त हैं जब भोगों से वे ऊब उठते हैं अथवा विषय जब अपने विषैले दांत उनके

---

१. विष्णुः = विष्णु शब्द 'विष्लृ व्याप्तौ' धातु से ब . है।

२. कल्माषग्रीवः = कर्मसु आसः प्रतिष्ठा स्थितिर्वा कर्मासः। कर्मास एव कल्माषः, कल्माष एव ग्रीवा यस्य स कल्माषग्रीवः। कर्म में प्रतिष्ठित होना ग्रीवा है यह भाव जिसने धारण किया हुआ है वह कल्माषग्रीव है।

३. वीरुधः = 'वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्' वनस्पतियां विरोहण करती हैं, विविध प्रकार से अंकुरित होती हैं या फूटती हैं इसलिये ये वीरुध् कहाती हैं।

शरीर में गाड़ देते हैं तो अपनी व्यथा और पीड़ा मिटाने के लिये इस जंगल की पगदण्डी पर हो लेने की जी में ठान लेते हैं। कुछ देर दृश्य और परिस्थितियों के परिवर्त्तन से वह आनन्द अनुभव करते हैं परन्तु जब वे मार्ग की चढ़ाई, विषमता और कठिनाइयों को देखते हैं तो उन्हें अपने पूर्व के आनन्द याद आने लगते हैं। विषैले दांतों के डसने की व्यथा भूल जाते हैं। वे फिर शहर की चौड़ी सड़क पर हो लेते हैं। उनमें न दृढ़ता है, न धीरता है, न स्थिरता है।

साधक ने ऐश्वर्य देखा है, वह सम्पत्ति में खेला है, भोग के आनन्द का अनुभव भी किया है। परन्तु सन्तों की सङ्गति से, ऋषि ग्रन्थों के स्वाध्याय से और प्रभु के आशीर्वादों से समय पर उसके अन्तः करण में विवेक और वैराग्य का उदय हुआ। उसने इस निर्जन पगदण्डी को पसन्द किया। वह परिवर्त्तन की इच्छा से नहीं, तमाशे की वृत्ति से नहीं परन्तु आत्मा के अभ्युदय और निःश्रेयस की भावना से इस पथ पर आया है। इसलिये वह दुःखों को सुख मान बढ़ता जा रहा है। कष्टों को प्रभु का प्रसाद समझ रहा है और एक पर एक कठिनाई पर विजय पाता जा रहा है।

साधक में स्थिरता व दृढ़ता है। मार्ग की चढ़ाई वह पार कर चुका है। अब वह मार्ग के थकान को मिटा देने

वाली शीतल और मन्द पवन के झोंके खा रहा है। निर्जन स्थान की पवित्रता उसकी आत्मा में समा रही है। नीरस मार्ग का माधुर्य्य उसके मन को मोहित कर रहा है। रोम रोम झूम रहा है। आत्मा निहाल हो रहा है।

साधक अब अपना पैर पीछे क्यों हटाये। जिसने नव जीवन का संचार करने वाली शीतल और मन्द पवन के झोंकों का आनन्द अनुभव किया वह शहर की तपती हुई लू में सिकने क्यों जाय? जिसने प्रेम-प्याले के दिव्य रस का एक घूंट चढ़ा लिया, वह भोग-विलास के हालाहल को क्यों उठाये? सोम रस का एक छींटा जिस के मुंह में पड़ चुका वह सुरा के प्याले को अपने लबों पर क्यों लगाये? वह तो और अधिक दृढ़ता और स्थिरता से अपने कदम बढ़ायेगा।

साधक की अब ध्रुवा दिक् है। स्थिरता सम्पादन अथवा अपने मार्ग में दृढ़ता से बढ़ते जाना उसका लक्ष्य हो गया है। ध्रुवा शब्द 'ध्रुव्' धातु से बना है। जिसका अर्थ स्थिरता है। साधक अब न भय से और न प्रलोभन से पीछे हटेगा। न मान से और न अपमान से विमुख होगा। न आपदाओं से और न सम्पदाओं से विचलित होगा। उसकी एक रट है– 'कार्यं वा साधयेयम् देहं वा पातयेयम्' इसीका नाम 'ध्रुवादिक्' है। इस दिशा के यात्रियों का भर्तृहरि ने भावपूर्ण चित्रण किया है:—

रत्नैर्महाब्धे स्तुतुषुर्न देवा

न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् ।

सुधां विना न प्रययुर्विरामं

न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥

अर्थात् "समुद्र के रत्नों को पाकर देवता लोग सन्तुष्ट न हुए और न भयंकर विष से भयभीत हो उठे। वे समुद्र का मन्थन करते रहे, जबतक अमृत नहीं पा लिया उन्होंने विश्राम न लिया। तात्पर्य यह है कि धीर मनुष्य अपने लक्ष्य पर बिना पहुंचे विश्राम नहीं लेते।" यही तो ध्रुवा दिक् है।

'ध्रुवा दिक्' का अधिपति विष्णु है। स्थिरता सम्पादन के लक्ष्य का आदर्श विष्णु है। 'विष्णु' नाम परमात्मा का है। 'वेवेष्टि सर्वं जगदिति'। परमात्मा सब जगह में व्याप रहा है इसी लिये उसका नाम 'विष्णु' है। स्वयं वेद भगवान् परमात्मा की व्यापकता का वर्णन कर रहा है 'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' (यजु. ३२. ८) व्यापक होने से प्रभु परम स्थिर है। जो प्रत्येक स्थान में व्याप रहा है, कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां पर वह न हो तो फिर वह गति कहां करे ? इस लिए ईशोपनिषद् में कहा है—"तद्धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत्" वह स्थिर है पर सब दौड़ने वालों से आगे

निकल जाता है। स्थिरता की दिशा में विष्णुरूप परमात्मा आदर्श है। जिस प्रकार परमात्मा व्यापक व स्थिर है वैसा साधक भी होना चाह रहा है।

अब प्रश्न उठता है कि स्थिरता के लिये क्या भाव रक्षक हैं ? उत्तर है-"कल्माषग्रीवो रक्षिता" कर्म में प्रतिष्ठित होना जीवन है यह भाव रक्षक व सहायक है।'कल्माषग्रीव' शब्द तीन शब्दों के मेल से बना है।'कल्मन्'का अर्थ कर्मन् अर्थात् कर्म है। 'आसनम् आस:प्रतिष्ठा स्थितिर्वा। कर्मसु आसास:कर्मास: कर्मास एव कल्माष: कल्माष एव ग्रीवा यस्य स कल्माषग्रीव:।' साधक ने कर्म में प्रतिष्ठित होना ही गर्दन अथवा जीवन है इस भाव को अपनी गांठ में बांध रखा है। स्थिरता सम्पादन के लक्ष्य में यह भाव ही तो रक्षक है। मन में प्रमाद पैठा कि स्थिरता असम्भव हो गई।

प्रसिद्ध कहावत है An idle brain is a devil's work shop खाली मन में शैतान बैठता है। जब मनुष्य कर्म में प्रतिष्ठित है शैतान बाहर से द्वार खटखटा कर लौट जाता है। पर जब प्रमाद में पड़ा है शैतान अन्दर पैठता है, फुसलाता है और पथभ्रष्ट करता है। फिर वह पहाड़ की तलहटी में पड़ा है। एक क्षण का प्रमाद कई दिनों, महीनों

और वर्षों की कमाई को पल भर में धूल में मिला देता है। इस लिये आवश्यक है कि मनुष्य सतत कर्म में प्रतिष्ठित हो जाय।

अरे साधक ! तेरी क्या ध्रुवा दिक् है, पग पीछे न हटाना क्या तेरा प्रण है ? तेरा मार्ग अत्यन्त कठिन है—तुझे प्रेरणा कहां से मिलती है ? उत्तर मिला–'वीरुध इषवः' नीचे से ऊपर उठने वाले पुरुष प्रेरक हैं। संस्कृत साहित्य में वीरुध् नाम वनस्पतियों का है। यास्काचार्य निरुक्त में लिखते हैं—

"वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्" वनस्पतियों का नाम वीरुध है क्योंकि वे जमीन की छाती फाड़ कर उल्टी ओर अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर उठती हैं। जो पुरुष नीचे से ऊपर उठने के गुणों से युक्त हैं उन्हें भी वीरुध् कहा जा सकता है।

साधारण व्यक्ति में संकल्प नहीं, स्थिरता नहीं, इस लिये उसके हृदय में तरंग उठती है और विलीन हो जाती है। सद्भावनाएँ आती हैं और आचरण में परिणत होने से पहिले ही लौट जाती हैं संकल्प और विकल्पों की थपेड़ों से वह समुद्र के किनारे की बालू के समान कभी आगे धकेला जाता है और कभी पीछे धकेला जाता है।

वीरुध् पुरुष में स्थिरता है, दृढ़ संकल्प है। सब विघ्न बाधाओं को तोड़ फोड़ कर वह ऊपर उठता है। वह उस

चट्टान के समान स्थिर और अचल है जिस पर लहरें टकराती हैं, छितराती हैं और वापिस लौट जाती हैं। ऐसे ही संकल्प और स्थिरता के धनी पुरुष स्थिरता के मार्ग में चल रहे नवीन साधक को पथ पदर्शन करते हैं और अपने जीवन से प्रतिक्षण प्रेरणा दे पाते हैं।

शेष पूर्ववत्

मनसा परिक्रमा का षष्ठ मंत्र

ओं ऊर्ध्वा दिक् बृहस्पतिराधिपतिः
श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो
रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्म
स्तं वो जम्भे दध्मः ।

(अथर्व० ३.२७.६)

शब्दार्थ—

(ऊर्ध्वा) सबसे ऊपर की (दिक्) दिशा है। इस दिशा में (बृहस्पतिः[१]) बड़ों से भी बड़ा परमात्मा (अधिपतिः) आदर्श है (श्वित्रः[२]) गति और वृद्धि का भाव (रक्षिता) रक्षक है। (वर्षं[३]) उपकार भावना से अपनी शक्तियों की वर्षा करने वाले लोग (इषवः) प्रेरक हैं। शेष पूर्ववत्।

व्याख्या—

साधक आगे बढ़ा, समृद्ध हुआ, अनासक्त रहा, सोम रस की छींट मुंह में पड़ी, चढ़ाई से पीछे हटा नहीं, स्थिरता से कदम बढ़ाता गया, परिणाम यह है कि पहाड़ की चोटी के वह नज़दीक है। अब ऊंची से ऊंची चोटी पर पहुंचने का उसका संकल्प, प्रण व लक्ष्य हो रहा है। यह ऊर्ध्वा (सबसे ऊपर की) दिक् है।

ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति 'बृहस्पति' है। 'बृहस्पति' नाम परमात्मा का है। परमेश्वर बड़ों से भी बड़ा है इसलिये

---

१. बृहस्पतिः = 'बृहत्' शब्द पूर्वक 'पा रक्षणे' धातु से बृहस्पति शब्द बना है। "यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः"। परमात्मा बड़े बड़ों से बड़ा और आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है इसलिए उसका नाम बृहस्पति है।

२. श्वित्रः = श्वित्र शब्द 'श्वि' और 'त्रा' धातु से बना है। 'श्वि' धातु का अर्थ है गति और वृद्धि। 'त्रा' धातु का अर्थ है रक्षण। इस प्रकार 'श्वित्र' शब्द का अर्थ हुआ गति—व वृद्धि रक्षक है।

३. वर्षम् = वर्ष शब्द 'वृषु' धातु से बना है इस का अर्थ है वृष्टि करना अथवा सींचना।

उसका नाम 'बृहस्पति' है। परमात्मा के इस बृहस्पति रूप को साधक अपनी ऊपर पहुंचने की अन्तिम दिशा का आदर्श स्थापित करता है। जैसा परमात्मा बृहस्पति है—बड़े बड़ों से भी बड़ा है—वैसा साधक होना चाह रहा है।

साधक ने उन्नति के पहाड़ की ऊंची से ऊंची चोटी पर पहुंचना है। अभी उसने कई टीलों को पार करना है। रस्ता बड़ा संकरा है। बर्फ जमी पड़ी है। पैर फिसलता है। एक ओर भारी खड्ड है। मौत मुंह बाये खड़ी है। जरा असावधान हुआ कि गिर कर चकनाचूर हो जाने का भय है। चढ़ाई सीधी है। एक एक कदम बड़ी मुश्किल से बढ़ा पा रहा है। अरे साधक! इस दुर्गम पथ पर कौन तेरा रक्षक है? उत्तर मिला—'श्वित्रो रक्षिता'। आगे बढ़ता ही जाऊं, उड़ान लेता ही जाऊं, ऊपर उठता ही जाऊं, यह महत्वाकांक्षा रक्षक है। जिसके दिल में महत्वाकांक्षा की अग्नि प्रदीप्त है, मुसीबतों को देख जो घबराता नहीं, आस्मान में उड़कर पहुंचने की जिसमें उमङ्ग है, वही तो एक के बाद एक टीलों को अपने पैरों से कुचलता हुआ पहाड़ की चोटी पर पहुंच सकता है। प्रसिद्ध अमेरिकन कवि H. W. Longfellow ने लिखा है:—

The height by grat men reached and kept,
Were not attained by sudden flight,
But, they while their companions slept,
Were toiling upwards through the night.

अर्थात्—'संसार के महान् व्यक्ति जिन ऊंचाइयों पर पहुंच पाये हैं, वहां वे एक छलांग मार कर नहीं पहुंचे हैं, परन्तु जिस समय उनके दूसरे साथी सोते थे वे दिन रात एक करते हुए ऊंचे उठने के लिये कठोर परिश्रम कर रहे थे।'

'श्वित्र' शब्द की इससे सुन्दर क्या व्याख्या की जा सकती है ?

अरे साधक ! तेरी क्या ऊर्ध्वा दिक् है, पहाड़ की चोटी पर चढ़ना क्या तेरा प्रण है ? तेरा मार्ग अत्यन्त कठिन है। कदम कदम पर संकट है। इन संकटों का सामना करने के लिये तू बल कहां से पाता है ? तुझे प्रेरणा कहां से मिलती है ? उत्तर मिला—'वर्षमिषवः।' जो उपकार भावना से अपनी शक्तियों की वर्षा करने वाले लोग हैं—वे प्रेरक हैं। संस्कृत साहित्य में 'वर्ष' शब्द वर्षा के लिये प्रयुक्त होता है। वर्षा के बिन्दु तप के सहारे ऊपर चढ़े परन्तु दूसरों के उपकार के लिये उन्होंने अपने को धूल में मिला देना उचित समझा। वर्षा की नन्हीं नन्हीं बूंद बनकर वह नीचे बरस पड़े। ठीक इसी प्रकार जो सतत साधना और तप के सहारे उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुंचे हैं, जो उन्नति से सन्तुष्ट न हुए परन्तु दूसरों को भी ऊंचा उठाने के लिये अपनी शक्तियों को बरसाने लगे ऐसे महान् व्यक्तियों को 'वर्ष' कहा जा सकता है। ऐसे पुरुष ही ऊर्ध्वा दिशा के यात्री को पथप्रदर्शन कर सकते हैं तथा अपने उच्च जीवन से प्रेरणा दे पाते हैं। शेष पूर्ववत्।

उपस्थान

साधक पृथ्वी की पीठ से उठकर पहाड़ की चोटी पर जा पहुंचा है। अपने परिश्रम तप और साधना से उन्नति के जिस शिखर पर पहुंच सकता था पहुंच गया है। इस ऊंचाई पर आकर वह अद्भुत नजारे देख रहा है। स्वर्गमय प्रकाश यहां अठखेलियां खेलता है। पत्ते पत्ते पर अपरिमित उल्लास फैल रहा है। भगवान् की यह क्रीड़ास्थली है। भक्त के अन्तःकरण में आनन्द की बाढ़ उमड़ रही है। परम शक्ति से वह अपना सामीप्य अनुभव कर रहा है। यह समीपता की अनुभूति ही उपस्थान है।

उपस्थान शब्द का अर्थ है समीप बैठना। उपासना शब्द का भी यही अर्थ है। भक्त अब भगवान् के समीप बैठा है। यम, नियम, ध्यान, धारणा और जप तप के सहारे उन्नति के शिखर पर पहुंचे साधक का आसन अब आराध्य देव के समीप है। इस उपस्थान तथा उपासना के लिये ही अबतक का प्रयत्न था। आत्म निरीक्षण, मार्जन, अघमर्षण तथा मनसा परिक्रमण सबका एक मात्र प्रयोजन उपस्थान ही है। उपस्थान ही कठिन है। समीप पहुंचने तक ही कठोर साधना और तप की आवश्यकता है। यहां आकर तो सब साधना समाप्त हो जाती हैं। भगवान् भक्त को अपने करुणामय हाथों से स्वयं उठाते हैं तथा अपने आशीर्वादों

की वर्षा से उसे निहाल करते हैं। भक्त ज्योतिर्मान् सूर्य भगवान् की चमकीली किरणों पर सवार हो लेता है। सब पार्थिव रागों की यहां इतिश्री है। साधक अब समाधि में जा रहा है। यहां के अनुभव निराले हैं। इन अनुभूतियों का अब आनन्द उठाइये।

उपस्थान मंत्र (१)

(ऋषिः प्रस्कण्वः काण्वः, देवता सूर्यः, छन्दोऽनुष्टुप्)

ओं उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ।

(यजु. ३५. १४.)

शब्दार्थः—

(वयं) हम (उत्) उत्कृष्ट (तमसः[१]) प्रकृति से (परि) परे (उत्तरम्) अधिक उत्कृष्ट (स्वः) स्वकीय जीवात्मा का (पश्यन्तः) साक्षात् करते हुए (देवत्रा देवं) देवों में देव (सूर्यम्[२]) सब के अभि-सरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य (उत्तमम्) सबसे उत्तम (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप परमात्मा को (अगन्म) प्राप्त हुए हैं।

व्याख्या:—

साधक का जप तप सफल हुआ। वह उस स्थान पर पहुंच गया है जहां पहुंचने की उसने अब तक कठोर साधना की थी। जिसके दर्शन को आँखें प्यासी थी उसे अब वह तरसी आंखों से पी रहा है। जिससे मिलने की अब तक अभिलाषा थी उस अपने प्रियतम को छाती से लिपटा रहा है। कैसा पवित्र दर्शन है! अहो! कैसा मंगल मिलन है!

पृथ्वी के तल से उठ कर साधक पहाड़ की ऊंची चोटी पर पहुंचा है बड़ी लम्बी यात्रा है। साधक आंख बंद

(१) तमसः = चैतन्य और ज्ञान प्रकाश के अभाव के कारण तमस् शब्द वैदिक साहित्य में प्रकृति का वाचक है। 'तम आसी त्तमसा गूढमग्रे (ऋ. १०. १२६. ३) इस मंत्र में प्रथम तमस् शब्द प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(२) सूर्यम् = श्री माध्वाचार्य्य ने सूर्य शब्द का अर्थ "सूरिभिः प्राप्यत्वात् सूर्यः" किया है। विद्वानों से प्राप्त होने से परमात्मा का नाम सूर्य है।

कर नहीं चला उसने अपने मार्ग के दृश्यों का न केवल (enjoy) किया है अपितु पैनी दृष्टि से और विवेचना शक्ति से उसके रहस्य को समझा भी है। अब वह स्वान्तसुखाय अथवा यों कहो कि इस पथ के पथिकों के लाभार्थ अपने अनुभवों को सुना रहा है।

प्रथम अनुभव है यह प्रकृति उत्कृष्ट है। प्रभु अपनी शक्तियों का आविर्भाव करता है। सब से बढ़ कर प्राणी प्राणी के प्रति प्रभु के हृदय में छलकते प्रेम का प्रकाश भी प्रकृति द्वारा ही हो रहा है। प्रभात की मन्द पवन में, पक्षियों के मीठे कलरव में, सौरभ भरे फूलों के विकास में, अलसाये बादलों की मस्तानी चाल में, उषा और संध्या की छिटकती लाली में, हवा के झकोरे से हिलती पत्तियों के नाच में, काले बादलों के ओट से उगते हुए चांद की मुस्कान में, अलसायी आंखों को चूमती रवि-रश्मियों के चुम्बन में, पेड़ों से लिपटती लताओं के आलिङ्गन में, तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति के एक एक पदार्थ में प्रभु के प्रेम का ही आविर्भाव है। इस उमड़ते प्रेम को देखने लिये प्रेमी की निगाह चाहिए। अगर यह है तो प्रकृति का अणु अणु प्रभु की ओर इशारा करता दिखाई देगा। अनुभव होगा कि यह प्रकृति स्वयं प्रभु पूजा का पवित्र मन्दिर है।

साधक ने इसी निगाह से प्रकृतिको देखा है, तभी तो कहता है प्रकृति उत्कृष्ट है। उसे बन्धन का हेतु समझना भूल है। और बन्धन और मुक्ति का असली हेतु तो मनुष्यों का मन है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" यदि मन सजग और पवित्र है तो यह प्रकृति मुक्ति का द्वार है। यदि मन में तृष्णा, वासना व विकार है तो यही फिर कैदखाना है। वस्तुतः प्रकृति उत् है उत्कृष्ट है।

साधकका दूसरा अनुभव यह है कि जीवात्मा प्रकृति से परे अथवा अलग है। प्रकृति जड़ है। आत्मा चेतन है। यह स्थूल है, वह सूक्ष्म है। प्रकृति का नाम तमस् है, जीवात्मा का नाम स्वः है। ये नाम ही दोनों के भेद को स्पष्ट कर रहे हैं। प्रकृति अन्धकारमय है, जीवात्मा प्रकाशमय है। जड़ और अन्धकार स्वरूप प्रकृति का परिणाम जीवात्मा नहीं है परन्तु इस की स्वतन्त्र और भिन्न सत्ता है।

यदि जीवात्मा प्रकृति का ही परिणाम हो तब तो शरीर की समाप्ति आवश्यक है। यदि आत्मा शरीर के समान विनिश्वर है तब पुरुषार्थ का अर्थ क्या? सतत साधना का परिणाम क्या? यदि मार्ग में ही मर मिटना है और मौत के साथ सम्पूर्ण पुरुषार्थ धूल में मिल जाना है तो फिर पसीना बहाने की जरुरत क्या? दुनिया के ऐश्वर्य और आराम को ठुकराने का प्रयोजन क्या? यदि इस पञ्च भूतों के पुतले का

ही परिणाम आत्मा है फिर तो चार्वाकों के कथनानुसार 'अङ्गनालिंगनाजन्यं सुखमेव पुमर्थता' दुनिया के भोगों का भोगना ही परमपुरुषार्थ होगा।

पर यह सत्य नहीं। साधक का अनुभव है "तमसस्परि स्वः" जीवात्मा प्रकृति से अलग है। जीवन का सातत्य है। आत्मा अमर और अविनश्वर है। पुरुषार्थ का विनाश नहीं। भगवान् कृष्ण ने कहा है:—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते
नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।
(गीता ६. ४०)

अर्थात्—"हे अर्जुन! आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग म चलते हुए व्यक्ति के पुरुषार्थ का न इस लोक में विनाश होता है न परलोक में। कल्याण कर्म करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता'।

तीसरा अनुभव यह है कि जीवात्मा उत्तर है। यदि प्रकृति उत् है- उत्कृष्ट है तो आत्मा उत्तर है, अधिक उत्कृष्ट है। जड़ और चेतन में चेतन ही उत्तर है। स्थूल और सूक्ष्म में सूक्ष्म ही उत्तर है। अन्धकार और प्रकाश में प्रकाश ही उत्तर है। आत्मा अपने ज्ञान के प्रकाश से प्रकृति को अपनी जीवन-यात्रा का साधन बना सकता है। प्रकृति

स्वामिनी नहीं यह तो आत्म-शक्ति-सम्पन्न पुरुष के चरणों की चेरी है। प्रकृति उत्कृष्ट है पर आत्मा उत्तर है— अधिक उत्कृष्ट है। ऐसी अवस्था में यदि आत्मा अपने शासन को छोड़ कर प्रकृति का वशवर्ती होता है तो यह उसकी भूल है।

आध्यात्मिक उन्नति के राह के राहियों के लिये साधक के यह अनुभव अत्यन्त उपयोगी हैं।

अब साधक जिसे देखता है, इतनी साधना के बाद जिसे मिल पाया है वह 'देवत्रा देवं' देवों का देव है। संसार में जड़ और चेतन दो प्रकार के देव हैं। पृथ्वी सूर्य चाँद आदि जड़ देव हैं। आचार्य, माता, पिता, अतिथि विद्वान् आदि चेतन देव हैं। वह देवाधिदेव है। सब देवों में देवत्व इस देवाधिदेव के ही कारण है।

यह देवाधिदेव ही सूर्य है— अभिसरणीय है। सब देवों का समावेश इसी में है इसलिये उसकी प्राप्ति में सर्वस्व की प्राप्ति है। वह अखण्ड और अक्षय आनन्द का भण्डार है इसलिये आनन्द की प्राप्ति में भटक रहा आत्मा इसकी प्राप्ति से ही कृतकृत्य होता है। वह परम विश्राम-स्थान है। आत्मा का असली घर वही है। इसीलिये यहां पहुंचने पर आत्मा शान्ति तथा विश्रान्ति पाता है। अतएव साधक कह रहा है— सूर्य परमात्मा ही तप और साधना द्वारा प्राप्त करने योग्य है।

अरे इस देवाधिदेव का रूप है कैसा ? उत्तर मिला– 'ज्योतिः' ज्योति स्वरूप है। गीता में भगवान् के इस दिव्य ज्योतिर्मय रूप का वर्णन निम्न शब्दों में हुआ है।—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।

(गीता ११. १२)

अर्थात्– यदि आकाश में एक साथ हज़ारों सूर्यों की ज्योति उदय हो जाय, तो वह ज्योति उस भगवान् की ज्योति के समान शायद हो।

ज्योतिर्मय भगवान् की ज्योति से ही यह विश्व प्रकाशित हो रहा है। सूर्य के प्रकाश में, चन्द्र की चाँदनी में, तारों की टिमटिमाती ज्योति में विद्युत् की चमक में, अग्नि के तेज में, प्रभात की लाल उषा में, सन्ध्या की रंगीली छटा में उसी ज्योतिस्वरूप की ज्योति जगमगा रही है। कठोपनिषद् में यही तो कहा है:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

(कठोपनिषद् ५. १५)

अपने प्रियतम का वर्णन करते हुए साधक अन्त में कह रहा है 'उत्तमं' वह सर्वोत्कृष्ट है। जीवात्मा अल्प है, वह अनन्त है। यह सत्चित् है, वह सच्चिदानन्द है। यह उत्तर है, वह उत्तम है। उत्तम कह देने के बाद कहने को बाकी क्या रहा? साधक चुप हो रहा।

उपस्थान मन्त्र (२)

(ऋषिः प्रस्कण्वः काण्वः, देवता सूर्यः, छन्दो गायत्री)

ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः
दृशे विश्वाय सूर्यम् ।

(ऋग्वेद १. ५०. १)

शब्दार्थ—

(त्यं) उस (जातवेदसं[१]) सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी (सूर्यं) अभिसरणीय (देवं) देव को (केतवः) झण्डियां (उद्वहन्ति) जताती व पहुंचाती है (विश्वाय) सबके प्रति (दृशे) परमात्म-संबंधी ज्ञान व दर्शन देने के लिये।

व्याख्या—

क्या पूछते हो कि उस सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी देव के पास पहुंचाने वाली राह कौनसी है? पहिले वहां पहुंचने की तीव्र इच्छा तो करो। जब दृढ़संकल्प होगा तब राह स्वयं मिल जावेगी।

क्या अद्भुत नजारा है, ऊपर, नीचे, अन्दर, बाहर, इधर, उधर, सब जगह झण्डियां फहरा रही हैं। किसके स्वागत के लिये? ये रंगबिरंगी झण्डियां इस विश्व के अणु अणु में व्याप्त विश्वात्मा के स्वागत के लिये उसी की राह बताने के लिये तथा विश्व के प्रति उसका दर्शन कराने के लिये हैं।

---

१. जातवेदसं = जातवेदस् शब्द का अर्थ करते हुए यास्काचार्य निरुक्त में लिखते हैं—'जातवेदाः कस्मात्? जातानि वेद, जाते जाते विद्यते इति वा'। अर्थात् जातवेदस् किससे? (क) परमात्मा सब उत्पन्न वस्तुओं को जानता है अर्थात् सर्वज्ञ है इसलिये इसका नाम 'जातवेदाः' है। (ख) अथवा परमात्मा सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है। सर्व-व्यापक व सर्वान्तर्यामी होने से भी परमात्मा का नाम जातवेदाः है।

ज़रा निगाह उठाओ ये झण्डियां नज़र पड़ेंगी तथा जिसकी ओर ये संकेत करती हैं उसकी झांकी मिल सकेगी।

फूल की पंखड़ियों में, तितली के पंखों में, परिन्दों के परों में, बादलों में, इन्द्रधनुष में, प्रभात की उषा में, सन्ध्या की छिटकती लाली में कौन चित्रकार बैठा अपनी तूलिका से किस्म किस्म के रंग भर रहा है। पवन के झकोरों में, झरनों की झरझर में, बादलों की गर्जन में, पंछियों के कलरव में, प्रपातों के झंकार में और नदियों के कलकल में कौन चतुर गवैया बैठा अपनी संगीत की सुरीली तान छेड़ रहा है? पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, सितारे तथा ग्रह उपग्रह सब अपने अपने मार्ग पर चक्कर काट रहे हैं। कौनसा वह नियन्ता है जो अणु अणु में बैठकर इस सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण नियम के साथ क्षण क्षण में गति दे रहा है? आस्मान में टिमटिमाते तारों की दीप-माला किसके स्वागत के लिये? वृक्षों की मधुर मुहारनियां किसकी महिमा जताने के लिये? ऊंचे खड़े पहाड़ों की हिमाच्छन्न गगनचुम्बी चोटियां किसकी ऊंचाई पाने के लिये? अगाध समुद्र की अचिन्तनीय गहराई किसके गाम्भीर्य को जताने के लिये? पत्ते पत्ते की विचित्र रचना किस शिल्पी का चमत्कार है? सूर्य का उष्ण प्रकाश और चन्द्र की शीतल चांदनी कौनसे वैज्ञानिक का आविष्कार है?

ये सब अनन्त झण्डियां हैं जो कि 'उसकी ओर' ले जाने वाले अनन्त मार्गों पर गड़ी हुई हैं। सबका संकेत 'उसकी ओर' है। साधक संकेत समझ रहा है। इन झंडियों के पीछे छिपा जो सबको झांक रहा है, उसकी मधुर झांकी ले रहा है। आंखें चार होने से आनन्द में मतवारा हो रहा है

उपस्थान मंत्र (३)

(ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः, देवता सूर्यः, छन्दस्त्रिष्टुप्)

ओं चित्रं देवाना मुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ।

(यजु० ७.४२)

शब्दार्थ—

(देवानां) देवों अथवा उपासकों का (अनीकं[1]) जीवन व बल रूप तथा (चित्रं[2]) अद्भुत रूप वाला पूजनीय परमात्मा (उदगात्) हमारे हृदय में उदित हुआ है वह (मित्रस्य) सूर्य की (वरुणस्य) वायु की (अग्नेः) तथा अग्नि की (चक्षुः) आंख है। (द्यावापृथिवी) द्युलोक पृथ्वी लोक तथा (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष लोक को (आप्राः) व्याप रहा है। सबका अभिसरणीय वह (जगतः) चर अर्थात् प्राणि जगत् का (तस्थुषश्च) अचर अर्थात् जड़ जगत् का (आत्मा) आत्मा है वही (सूर्यः) सबसे अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य है (स्वाहा[3]) उसके प्रति हम (सर्वस्व) समर्पण करते हैं।

व्याख्या—

सूर्योदय का दृश्य अत्यन्त सुन्दर और दिव्य है। जब रात्रि के अन्धकार के पश्चात् प्रातःकाल पूर्वाकाश में अपनी दिव्य छटा छिटकाते हुए, रश्मिजल से नभोमण्डल को लालिमामय बनाते हुए, तथा दिग्दिगन्त को अपने अपूर्व तेज से आलोकित करते हुए सूर्यदेव अपनी सहस्रों सुनहली रश्मियों के साथ पहाड़ों की शुभ्र और श्यामवर्ण की गगन-

---

१. अनीकम्—अन् प्राणने धातु से किन् प्रत्यय करने पर 'अनीक' शब्द सिद्ध होता है। 'अनित्यनेनेत्यनीकम् जीवनं बलं वा"।

२. चित्रम्—चित्रं चायनीयं पूजनीयं (निरुक्त० १२.६)

३. स्वाहा—(सु) अच्छी प्रकार (आ) पूर्ण (हा—ओहाक् त्यागे)

चुम्बी चोटियों के पीछे से उदय होते हैं, सहृदय हृदय भगवान् की लीला पर मुग्ध हो उठता है।

भक्त के हृदयाकाश में, जड़ चेतन सम्पूर्ण देवों को शक्ति, प्राण, जीवन अथवा यों कहो कि स्वयं देवत्व प्रदान करने वाले सूर्य भगवान् अपने पूर्ण प्रकाश के साथ उदय हो रहे हैं। क्या सुनहला समय! कैसा दिव्य दृश्य! भक्त की हृदय गुहा का कोना कोना भगवान् के दिव्य प्रकाश से जगमगा उठा है। तामसिक वासनाओं का समूल विनाश हो रहा है। अन्तःकरण भगवान् की उज्वल और देदीप्यमान आभा से चमक रहा है। इस दिव्य दृश्य को देखकर भक्ति भाव में भीज रहे और आनन्द में विभोर हो रहे भक्त के मुख से अनायास निकलता है 'चित्रम्'। भक्त के अन्तःकरण में उदय हो रहे सूर्य भगवान् के स्वरूप का वर्णन करने के लिये 'चित्रम्' के सिवा और कोई उपयुक्त शब्द ही नहीं। भक्त के हृदय में विचित्र भावनाओं का सम्मिलन हो रहा है। वहां आनन्द है, आश्चर्य है और पूजा की भावना है। इन सब भावनाओं को चित्रित करने के लिये 'चित्रम्' शब्द विचित्र रूप से समर्थ है।

भक्त अब अपनी नस नस और नाड़ी नाड़ी में नवीन शक्ति को संचरित होता हुआ अनुभव कर रहा है। भौतिक सूर्य के उदय होने से वानस्पतिक जगत् में शक्ति, प्राण और जीवन का संचार हो जाता है। ठीक इसी प्रकार भक्त

के अन्तर में परमात्म देव के प्रकट हो जाने से उसकी आत्मा में नवीन शक्ति, प्राण व जीवन का संचार हो रहा है। परमात्मा 'देवानां अनीकम्' उपासकों के आत्मा के लिए जीवन व बलरूप है। आत्मा स्वयं सीमित और अल्पशक्तिसम्पन्न है। जब आत्मा 'देवानां अनीकम्' शक्ति, प्राण व जीवन के स्रोत प्रभु से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है, उसकी शक्तियों का विकास होता है। विद्यमान शक्तियां विशाल होती हैं तथा नवीन जीवन प्राप्त होता है।

अहो ! भक्त ने जो दिव्य दृश्य देखा, उससे कुछ ऐसी मस्ती समाई है कि यह सम्पूर्ण संसार आज उसे नवीन ही दिखाई दे रहा है। आकाश में सूर्य देव के उदय होने से रात्रि का अंधकार प्रकाश में परिवर्त्तित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा देव के प्रकट होने से प्राकृतिक जगत् दिव्य बन रहा है। प्रकृति के एक एक पदार्थ में परमात्मा की झलक है। स्थावर जंगम जगत् के पीछे एक आत्मा है। उस से द्युलोक, तथा अन्तरिक्ष लोक इत्यादि सम्पूर्ण विश्व आपूर्ण है। कवि-हृदय पं० चमूपति जी ने इस परिवर्त्तन का कवितामयी भाषा में वर्णन किया है:—

"आज सकल संसार दिव्य है क्योंकि दिव्य दृष्टि से देखा गया है। वस्तु वस्तु में परमदेव की झलक, अणु अणु में ईश की चमक, वसन्त ऋतु में वृक्ष भी पीले दीखते हैं। हरे

चश्मे में आकाश भी हरा, पृथ्वी भी हरी, धूप भी हरी, और छाया भी हरी। कल यही जल था उस की उमड़ से कांपते जाते थे, यही अग्नि थी उसकी लपट से कलेजा थर्राता था, यही सूर्य था जिसकी किरणें आग्नेयबाण थीं। आज दृष्टि के परिवर्त्तन से जल सौम्य है, अग्नि पावक और सूर्य ज्योति का पुंज। ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय है व्यापक आकाश उससे व्याप्त है। दृढ़ पृथ्वी उससे सुदृढ़ है। वही तारों की द्युति, वही सूर्यचन्द्र की ज्योति। चलतों में उसकी गति, स्थितों में उसकी स्थिति। वही नेता होकर अग्नि का मार्गदर्शक है। वही रस होकर वरुण (जल) का रस वर्धक। वही तेज होकर सूर्य का सविता। वही सर्ववित् उपदेशकों का उपदेष्टा। अग्नि को कौन कहता है ऊपर जा और जल को कौन सिखाता है निम्न स्थल पर वह? वैज्ञानिक कहेगा प्रकृति के नियम हैं। साधु-वही तो नियमों का नियामक है।"

उपासक इस दिव्य दृश्य को देख मुग्ध हो रहा है। भक्ति भाव से भीज रहा है और कृतकृत्य हो रहा है। वह अपने समीप उसे देख रहा है जिसके दर्शन के लिये सम्पूर्ण जप तप ध्यान और साधना है।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः

वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैः गायन्ति यं सामगाः।

ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

उपासक 'चित्रम्' के दर्शन से ऐसा मोहित आकर्षित और प्रभावित हुआ कि वह इसे ही अब 'सूर्य' अभिसरणीय समझ रहा है। 'चित्रम्' को प्राप्त करना ही इसकी साधना और जीवन का ध्येय हो गया है। वह इस 'सूर्य' परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने के लिये 'स्वाहा'—सर्वस्व का अर्पण कर रहा है। उपासक का जीवन 'चित्रम्' के चरणों में अर्पित है।

उपस्थान मन्त्र (४)

(ऋषि दध्यङ् आथर्वण:, देवता सूर्य:, छन्दस्त्रिष्टुप्)

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं
अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात्।

(यजु. ३६. २४)

शब्दार्थः—

(तत्) वह (चक्षुः[1]) सर्वद्रष्टा व मार्ग दर्शक (देवहितं) देवों का हितकारी (शुक्रं) शुद्ध, पवित्र (पुरस्तात्) हमारे सामने (उच्चरत्) उदय हुआ हुआ है। उसकी कृपा से (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) सुनें। (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) अदीन (स्याम) रहें। (शतात् शरदः भूयश्च) सौ वर्ष से अधिक भी देखते, सुनते, बोलते तथा अदीन होते हुए जीते रहे।

व्याख्या—

सूर्य भगवान् की दिव्य छटा देख कर उपासक कह उठा है—देखो, देखो, सामने उदित हो रहे और अपने निर्मल प्रकाश में चमक रहे सूर्य देव को देखो। संसार की यह आंख है। देवों का हितकारी चक्षु है। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह नहीं नहीं संसार का अणु अणु अनन्त काल से अपने अपने नियत मार्ग से रेखामात्र भी विचलित न होता हुआ गति कर रहा है। यह सूर्य भगवान् की ही महिमा है। अणु अणु की वह आंख है। वही रस्ता बताता है। वही मार्गदर्शक है।

महान् सूर्य—प्राप्तव्य परमात्मा—अपने प्रकाश से संसार को न केवल दर्शन शक्ति दे रहा है, अपितु देवों का-देव स्वभाव वाले व्यक्तियों का-हित भी साध रहा है।

(१) चक्षुः—चक्षुः शब्द "चक्षिङ् दर्शने" धातु से बना है। 'चष्टे इति चक्षुः' परमात्मा सबको रास्ता दिखा रहा है इस लिए उसे चक्षुः कहते हैं।

उपासक विश्व को दर्शन शक्ति दे रहे, भक्तों का कल्याण साध रहे और विशुद्ध प्रकाश में चमक रहे परमात्म-देव के दर्शन से कृतार्थ और पुलकित हो रहा है। उसकी यह अभिलाषा है कि अपने प्रियतम से यह मिलन क्षणिक न हो। उसे अनुभव हो रहा है कि प्रियतम से मिलन ही समस्त मंगल का मूल और आनन्द का स्रोत है। यह जानते हुए कि वही विश्रान्ति और परम शान्ति का धाम है, उपासक अपने प्रियतम प्रभु से क्षणमात्र के लिये भी विमुख होना नहीं चाह रहा। वह तो उसे अपनी मस्ती से लिपटा लिया चाहता है। वही आंखों की ज्योति हो, कानों में उसी अश्रुत की श्रुति हो, जिह्वा से उसी के नाम का जप हो। कैसी शुभ कामना! अहो! कैसी पवित्र भावना!

'जीवेम शरदः शतम्' सौ वर्ष तक प्रभु का दर्शन करते हुए जीते रहें यह वाक्य संकेत कर रहा है कि मनुष्य की आयु की अवधि साधारण रूप से १०० वर्ष की है। इस अवधि से कम वर्षों का जीवन अपने पापों का परिणाम है। पवित्र आचरण तथा ब्रह्मचर्य से इस अवधि को बढ़ाया भी जा सकता है। 'भूयश्च शरदः शतात्' यह मन्त्र भाग इसकी सूचना दे रहा है।

पवित्र आचरण के लिए प्रभु का दर्शन, श्रवण और प्रवचन आवश्यक है। यदि जीवन के प्रत्येक लक्ष्य में अणु अणु में व्याप रहे प्रभु को हम देखते रहें, संघर्ष

और संग्राम के कोलाहल से आकुल इस कर्मग्रस्त संसार में रहते हुए भी यदि हमें क्षण क्षण में स्मरण हो कि विश्व को दर्शन-शक्ति दे रहे प्रभु की दिव्य चक्षु हमें देख रही है तो हमारे कर्म शुभ होंगे। आचरण पवित्र होगा, जीवन दिव्य होगा। शुभ कर्म, पवित्र आचरण तथा दिव्य जीवन आयु की अवधि बढ़ाने का प्रथम साधन है। दीर्घ आयुष्य का दूसरा तथा प्रधान साधन ब्रह्मचर्य[1] है। प्रत्येक क्षण में ब्रह्म की अनुभूति होने का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ है 'ब्रह्म में सब शक्तियों का चराना' जिससे कि वे विषयों में न चरें। आंखों से प्रभु का दर्शन हो रहा है, कानों से उसी का श्रवण हो रहा है, जिह्वा से उसी का प्रवचन हो रहा है, यही तो ब्रह्म में विचरण अथवा ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य से सब इन्द्रियां स्वस्थ व सबल होंगी, यही नहीं परन्तु मौत को भी ढकेला जा सकता है। ब्रह्मचर्य, ब्रह्म-दर्शन अथवा ब्रह्मज्ञान का फल अथर्व वेद के निम्न मन्त्रों में इन्द्रियों की स्वस्थता तथा दीर्घ आयुष्य ही बताया गया है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतामावृतां पुरम्
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः।

---

(१) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।

(अथर्व ११. ५. १९)

न वै तं चक्षु र्जहाति न प्राणो जरसः पुरा
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।
(अथर्व. १०. २. २९-३०)

अर्थात्—जो उपासक अमृत से वेष्टित ब्रह्म की नगरी को जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्म जनित इतर देवता चक्षु प्राण और प्रजा देते हैं। जो ब्रह्म की नगरी को जानता है उसे चक्षु आदि इन्द्रिय तथा प्राण अर्थात् आयु वृद्धावस्था से पूर्व नहीं छोड़ते।

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' सौ वर्ष पर्यन्त जीना ही पर्याप्त नहीं। जीवन्मुक्त होकर जीना अथवा अदीन होकर जीवनयापन करता वैदिक जीवन का आदर्श है। अदीन जीवन के लिए प्रभु की अध्यक्षता आवश्यक है जो उपासक प्रभु की अध्यक्षता में जीवनयापन करता है वह अदीन निर्भय, स्वावलम्बी तथा आत्मविश्वासी होगा। उसकी अध्यक्षता में रहना और दीन हीन होना कैसे हो सकता है? प्रभु की उपासना और पराधीनता साथ साथ नहीं चला करती। इहलौकिक और पारलौकिक सम्पूर्ण ऐश्वर्य के प्रदान करने वाले महादानी प्रभु के समीप पहुंच कर दीनता कैसी! भय कैसा! उपासक आत्मतृप्त है, वह क्यों किसी के सम्मुख हाथ पसारेगा! जब भक्त की चिन्ता प्रभु ने ली है तो फिर उसे पराधीन व परमुखापेक्षी होने की जरूरत क्या? प्रभु की उपासना अदीनता की परम रसायन है। स्वाधीनता निर्भयता, आत्मविश्वास तथा स्वावलम्बन उपासक की दिव्य सम्पत्ति है।

गायत्री मन्त्र

(ऋषिः विश्वामित्रः, देवता सविता, छन्दो गायत्री)

ओं भूर्भुवः स्वः ।

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(यजु० ३६. ३)

शब्दार्थ—

(ओ३म्) यह परमात्मा का निज नाम है वह (भूः[1]) सत्, (भुवः[2]) चित् (स्वः) आनन्द स्वरूप है। (सवितुः[3]) सर्व प्रेरक (देवस्य) परमात्म देव के (तत्) उस (वरेण्यं[4]) वरने योग्य (भर्गः[5]) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) सन्मार्ग में प्रेरित करे।

व्याख्या—

उपस्थान मंत्र समाप्त हुए। उपासक को अपने उपास्य देव के समीप बैठने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। त्रिलोकी में व्याप रहे परमात्म देव की दिव्य ज्योति व विशुद्ध तेज के दर्शन हुए। गायत्री मन्त्र से अब इसी विशुद्ध तेज को धारण करने की प्रार्थना व प्रयत्न है।

गायत्री मन्त्र को गुरु[6] मन्त्र तथा सावित्री[7] भी

---

(१) भूः—'भू सत्तायाम्' धातु से भूः शब्द बना है।

(२) भुवः—'भुवोऽवकल्कने' धातु से भुवः शब्द बना है। 'अवकल्कन' का अर्थ चिन्तन है।

(३) सवितुः—षु प्रेरणे।

(४) वरेण्यं—वृञ् वरणे।

(५) भर्गः—भ्रस्ज पाके।

(६) उपनयन के समय गुरु शिष्य को सबसे पूर्व गायत्री मन्त्र का उपदेश करता है इसलिए इसे गुरुमन्त्र कहा जाता है।

(७) इस मन्त्र का देवता सविता है इसलिए यह सावित्री मन्त्र भी कहाता है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है:—"अथास्मै सावित्री-मन्वाह। गायत्रीमेव सावित्री मनुब्रूयात्॥"

कहते हैं। वैदिक साहित्य में गायत्री मन्त्र की बड़ी महिमा है इसीलिए मन्त्र की प्रतिपद व्याख्या से पूर्व गायत्री का अति संक्षिप्त वर्णन अप्रासङ्गिक न होगा।

गायत्री शब्द का अर्थ ही गायत्री की महिमा को बता रहा है। यास्काचार्य्य ने निरुक्त में गायत्री शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है:—'गायतो मुखाद् उदपतदिति गायत्री' (७. १२) गान करते हुए परमेश्वर के मुख से सबसे पूर्व गायत्री निकली इसलिए इसका नाम गायत्री है। गायत्री शब्द की एक और व्युत्पत्ति की जा सकती है। 'गायन्तं त्रायते इति गायत्री'। गायत्री का गान करते हुए व्यक्ति की यह रक्षा करती है इसलिए भी गायत्री है।

प्राचीन ऋषियों ने गायत्री, सावित्री अथवा गुरुमंत्र की महिमा का स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। अत्रि ऋषि 'अत्रि स्मृति' में लिखते हैं:—

सावित्र्यास्तु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम्"

अर्थात् गायत्री से बढ़ कर और कोई मन्त्र नहीं है, यह परम पवित्र करने वाला मन्त्र समझा गया है।

मनु महाराज ने मनुस्मृति में लिखा है:—

ओंकार पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम्।

(मनु० २. ८१)

अर्थात् ओंकार पूर्वक तीनों अव्यय महाव्याहृति (भूः, भुवः, स्वः,) और तीन पदों वाली गायत्री को वेद का मुख समझना चाहिए।

शंख ऋषि ने शंख स्मृति में लिखा है:—

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशनी ।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम् ॥

अर्थात् गायत्री की माता वेद है। गायत्री सब पापों को नाश करने वाली है। गायत्री से बढ़कर द्युलोक और पृथ्वी लोक में कोई पवित्र करने वाली वस्तु नहीं। शंखऋषि ने गायत्री के महत्त्व का वर्णन करते हुए फिर लिखा है—

हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे

अर्थात् जो अपने पापों के कारण दुर्गति और दुःख के समुद्र में पड़े हुए हैं उन्हें यह गायत्री देवी अपने हाथ का सहारा देकर उठाती है"।

गायत्री की इसी महिमा के कारण मनु, अत्रि, शंख इत्यादि प्राचीन ऋषि महर्षियों ने गायत्री के जप का विधान किया है। गायत्री की इस महिमा को समझने के लिये मंत्र की प्रतिपद व्याख्या देखिए।

गायत्री के साथ ओंकार पूर्वक भूः, भुवः, स्वः इत्यादि तीन महाव्याहृतियों का प्रयोग

हुआ है। सबसे प्रथम पद ओ३म् है। यह परमात्मा का निज नाम है। 'ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः' (गीता १७. २३) ओ३म् शब्द से परमात्मा के नाम का निर्देश होता है। योगदर्शन में भी लिखा है—'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगदर्शन १. १७) परमात्मा का नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। ओ३म् शब्द अ उ म् इन तीन अक्षरों से बना है। इसकी विस्तृत व्याख्या माण्डूक्योपनिषद् में की गई है। यहां विस्तार में जाना हमें अभीष्ट नहीं। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'ओ३म्' यह पद 'अव रक्षणे' धातु से बना है। परमात्मा परम रक्षक है इसी लिये उसका नाम ओ३म् है।

संसार एक युद्ध स्थली है। प्रत्येक विजय पाने के लिये यहां बड़ा संघर्ष और संग्राम है। पग पग पर कष्ट और संकटों का सामना है। जिस समय विपत्ति और निराशा के बादल सर्वत्र छा जाते हैं, कोई सांसारिक रक्षा सम्भव नहीं दीखती, मनुष्य एक अदृश्य और अज्ञेय शक्ति को पुकारता है। सहायता मिलती है, रक्षा होती है और विपत्तियों के बादल क्षणभर में उड़ते नजर आते हैं। जहां बचने की कोई कल्पना नहीं होती, अन्तिम विनाश ही दीख रहा होता है, वहां पर भी हृदय से पुकार उठने पर कोई अज्ञेय शक्ति अपने अदृश्य हाथों से रक्षा के लिये आ पहुंचती है। यह अदृश्य हाथ परमपिता परमात्मा के हैं, जो हर जगह पहुंचे हुए, हर वक्त हमारी रक्षा करते हैं। प्रत्येक स्थान में फैली हुई प्रभु की

रक्षक भुजाओं से ही प्रत्येक क्षण में प्राणि-मात्र की रक्षा और कल्याण हो रहा है। उसकी अरक्षा में भी रक्षा है, विपत्ति में भलाई और विनाश में कल्याण छिपा है। परमात्मा के इस रक्षक रूप का ऋग्वेद में क्या सुन्दर वर्णन है—

'बृबदुक्थं हवामहे सृप्रकरस्नमूतये साधु कृण्वन्तं अवसे।

(ऋग्वेद ८. ३२. १०)

अर्थात् स्तुति करने योग्य परमात्मा को हम रक्षा के लिये पुकारते हैं। उसकी रक्षक भुजाएं सब जगह फैली हुई हैं। वह रक्षा के लिये सदा (साधु) कल्याण ही करने वाला है।

परमात्मा के ओ३म् नाम की जिसका धात्वर्थ रक्षण है, स्वयं वेद भगवान् ने क्या सुन्दर व्याख्या की है।

भूः, भुवः स्वः इन तीन महाव्याहृतियों में परमात्मा के तीन मुख्य गुणों को बताया गया है, या यों कहिए कि इन शब्दों से परमात्मा को define किया गया है। प्रकृति सत् है, जीव सत् चित् है, परमात्मा भूः, भूवः स्वः, सत् चित् और आनन्द है।

उपासक ने सूर्य भगवान् की किरणों में स्नान किया अब वह सविता देव की देदीप्यमान ज्योति को अन्तः-करण में धारण कर लिया चाहता है। मंत्र के शब्दों में कहें तो सविता देव के 'वरेण्यं भर्गः' को हम धारण करें।

सविता शब्द षूङ् या षु धातु से बना है जिसका अर्थ उत्पत्ति व ऐश्वर्य है। प्रेरणार्थ षु धातु से भी सविता शब्द बनता है। यहां हमें प्रेरणा अर्थ अभीष्ट है। इस गतिमय ब्रह्माण्ड में जो हिलना जुलना हो रहा है, जो इसमें एक एक चेष्टा और एक एक क्रिया हो रही है उसका प्रवर्तक और प्रेरक परमात्मा है इसलिए उसका नाम सविता है। सविता देव की इच्छा के बिना घास का एक तिनका भी हिल नहीं सकता और उसकी इच्छा होने पर पल भर में पृथ्वी पर प्रलय मच सकती है। इस संसार सागर की क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् सब लहरें सर्वप्रेरक प्रभु से ही पैदा हो रही हैं। कोई वस्तु नहीं जो सविता देव की प्रेरणा से प्रेरित न हो। उपासक इसी सविता देव की उपासना में है।

देव शब्द का अर्थ करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं:—'देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा' (निरुक्त ७.१५) देव शब्द दानार्थक भी है और द्योतनार्थक भी है। सर्व प्रेरक प्रभु स्वयं प्रकाशरूप है तथा आत्मा को प्रकाश प्रदान करने वाला है। उपासक प्रकाश-पुंज के समीप बैठा परमात्मदेव के भर्ग का धारण कर रहा है।

भर्ग शब्द का अर्थ है विशुद्ध तेज। परमात्मा का भर्ग वरेण्य है, प्रत्येक मनुष्य मात्र से वरणीय अथवा स्वीकार करने योग्य है। जितना जितना इस भर्ग का धारण होता

जायगा उतना उतना अन्तःकरण निर्मल, बुद्धि विशद और आत्मा प्रकाशित होता जायगा। 'भर्ग' शब्द 'भ्रस्ज् पाके' धातु से बना है जिसका अर्थ है परिपाक अथवा पकाना। इस धात्वर्थ से यह संकेत मिलता है कि भर्ग परिपाक द्वारा अर्थात् विशुद्ध तेज तप द्वारा प्राप्त होता है। सुवर्ण परिपाक द्वारा अर्थात् भट्टी में तपाये जाने पर कुन्दन बनता है। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति भी तपस्या की भट्टी में तप कर तेज प्राप्त कर पाता है।

प्रश्न होता है कि सवितादेव के वरेण्य भर्ग को धारण करने का प्रयोजन क्या? उत्तर है—'धियो यो नः प्रचोदयात्' धारण किया हुवा सविता देव का विशुद्ध प्रकाश हमारी बुद्धियों को प्रेरणा देता है।

कर्म की गति गहन है कर्त्तव्य क्या है अकर्तव्य क्या है यह पहचान पाना सहज नहीं। धर्म और अधर्म की उलझन में धर्म का निर्भ्रान्त रूप से निश्चय कर पाना नितान्त कठिन है। बुद्धि के प्रदीप का मन्द प्रकाश तिमिर के निवारण में शक्तिहीन है। बुद्धि के प्रकाश की मन्दता और तिमिर की गहनता के कारण उपासक सविता देव के प्रदीप्त प्रकाश का आह्वान करता है। अपने प्रत्येक प्रणिधान, चिन्तन, मनन, और जपन के साथ आत्मा को प्रकाश से आप्लावित किया चाहता है। धारण किया गया यह प्रकाश पथ-प्रदर्शन में तथा निर्भ्रान्त रूप से प्रेरणा-प्रदान करने में समर्थ है। जब स्वयं प्रभु की

प्रेरणा से प्रवृत्ति है तो फिर पाप कैसे ? भय कैसे ? धर्म और अधर्म की उलझन कैसे ?

प्रेरक प्रभु प्राणी मात्र को प्रतिक्षण प्रेरणा दे रहा है। शाश्वत काल से उसकी प्रेरणा का प्रवाह चल रहा है, पर सब कोई उस की प्रेरणा पा नहीं रहा। प्रकाशपूर्ण आत्मा कृतार्थ हो रहा है, अन्धकार से आवृत अन्तःकरण वंचित हो रहा है। सविता देव की प्रेरणा सब कहीं है पर उसे पाने का कुछ नियम है। गंगा की पवित्र धारा अनन्त काल से अनवरत रूप से बह रही है, परन्तु वहां पहुंच कर पवित्र होने के लिए पुरुषार्थ चाहिए। पवन में प्राण शक्ति का प्रवाह चल रहा है परन्तु नस नस और नाड़ी नाड़ी में उस प्राण शक्ति के संचार के लिए अभ्यास चाहिए। सूर्य का प्रकाश सब कहीं फैल रहा है परन्तु उससे आयुष्यवर्धक रश्मियां लेने के लिए उनका सेवन आवश्यक है। आकाश में शब्द की धाराएं प्रतिक्षण प्रवाहित हो रही हैं परन्तु उनके लिए ग्राहक यंत्र (Rec·iver) चाहिए। ठीक इसी प्रकार प्रेरक प्रभु की प्रेरणा सब कहीं चल रही है परन्तु इन्हें पाने के लिए प्रकाशपरिपूर्ण आत्मा चाहिए।

वीणा की तारें समस्वर होने पर ही उन में से एक तार पर अंगुली चलाने से समीप की दूसरी तारों से मधुर झंकार निकलती है। यदि तारें परस्पर एक स्वर में मिली न हों तो एक तार से आवाज़ निकल नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार

हृत्तन्त्री की तारें मिलीं होने पर—मन, बुद्धि, और आत्मा के सविताद्देव के साथ समस्वर होने पर ही प्रभु प्रेरणा की झंकार निकल सकती है यदि ये समस्वर नहीं तो प्रभु की प्रेरणा का ग्रहण हो नहीं सकता ।

अन्धकार और प्रकाश का तो मेल नहीं । इसी लिए उपासक प्रकाश पुंज के समीप पहुंचा है । अब गायत्री से प्रकाश धारण करता हुवा वह सविता देव के साथ समस्वर हो रहा है ।

उपासक साधनों के यान पर चढ़ कर इस उच्च स्थिति पर पहुंच पाया है । प्रत्येक कर्म के लिए वह प्रभु से प्रेरणा पा रहा है । यहां कोई संशय नहीं, भय नहीं, उलझन नहीं । कैसी आनन्दमय स्थिति है । जो चाहे इस उच्च पदवी पर पहुंच सकता है । परन्तु साधना से, प्रणिधान से और योग्यता सम्पादन से ।

गायत्री मंत्र में किसी पार्थिव पदार्थ की प्रार्थना नहीं। यहां तो सविता देव के साथ समस्वर होने के लिए प्रणिधान द्वारा प्रकाशपुंज प्रभु के प्रकाश के धारण का प्रयत्न है। प्रकाश से आप्लावित हो जाने पर बुद्धि को दैवी प्रेरणा मिलती है। इस बीहड़ संसार में, अथवा इस कार्यक्षेत्र में पग पग पर प्रभु की प्रेरणा पथप्रदर्शन करे इस से अधिक उपासक को क्या चाहिए। इसी लिए गायत्री की इतनी महिमा है।

नमस्कार मन्त्र

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च ।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च ।
नमः शिवाय च शिवतराय च ।

(यजु॰ १६.११)

शब्दार्थः—

(शम्भवाय) शान्तरूप प्रभु के लिये (नमः) नमस्कार (च) और (मयोभवाय) आनन्दस्वरूप प्रभु को (नमः) नमस्कार। (शङ्कराय) शान्ति प्रदान करने वाले प्रभु को (नमः) नमस्कार (च) और (मयस्कराय) आनन्द देने वाले प्रभु को (नमः) नमस्कार। (शिवाय) कल्याणरूप प्रभु को (नमः) नमस्कार (च) और (शिवतराय) अत्यन्त मंगलमय प्रभु के प्रति (नमः) नमस्कार हो।

व्याख्याः—

उपासक अब अपने प्रत्येक कार्य के लिये प्रभु से साक्षात् प्रेरणा पा रहा है। यह अनुभव करते हुए कि सम्पूर्ण कर्म के लिये शक्ति तथा प्रेरणा प्रभु से मिल रही है, उपासक समझता है कि कर्म करते हुए भी वह कर्म का कर्ता नहीं। वह तो निमित्तमात्र है। कर्म प्रभु का है। प्रभु के चरणों में कर्म अर्पण करता है। यही नमन है।

उपासक परमात्मा की कृपा, करुणा, महिमा और उपकार को स्मरण करके प्रेमातिशय से द्रवीभूत हो अपना मस्तक झुकाता है। उपासक के पास इसके सिवा है ही क्या, जिसे वह निरीह और कामनाशून्य प्रभु के चरणों में भेंट चढ़ा सकता है। सम्पूर्ण जगत् प्रभु के चरणों में पड़ा है। समूचे संसार में उपासक भक्तिभरे प्रणाम को ही अपना कह

सकता है। विचित्र बात यह है कि आप्तकाम भगवान् को यदि कोई चाहना है तो उपासक की इसी अपनी वस्तु की।

नमन का अर्थ पूर्ण नम्रता अथवा समर्पण है। अपने सम्पूर्ण कर्म, सारी सम्पत्ति, समृद्धि और सफलताओं को प्रभु के चरणों में अर्पण करना नमन का तात्पर्य है। नमन द्वारा अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रभु के चरणों में विनीत उपहार रखता हुवा उपासक अभिमान पर विजय पाता है। अहंकार मिटाने का यह नमन ही एकमात्र उपाय है।

सफलता अर्पण में है। पुष्प की सफलता इस बात में है कि वह पूर्णरूप से विकसित हो, अपने सौरभ से विश्व को सुरभित करे तथा अन्त में प्रभु के चरणों में अर्पित हो। इसी प्रकार मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि सम्पूर्ण शक्तियों का पूर्ण विकास हो अपने गुणों की सौरभ से विश्व को सुरभित करे और अन्त में प्रभु के चरणों में अर्पित हो।

नमन 'सन्ध्या' की अन्तिम भूमिका है। प्रेमपूर्ण नमन के साथ सन्ध्या यज्ञ की समाप्ति है। नमन अथवा प्रभु के चरणों में सर्वस्व के अर्पण में अर्चन की पूर्णता है।

सन्ध्या-यज्ञ का आरंभ 'शं नो देवीः' मंत्र से शान्ति की कामना से हुआ है। उपसंहार भी वही 'नमः

शंम्' करते हैं। उपासक जिस शान्ति की कामना कर रहा था उसे वह अनुभव कर पाया है। तभी तो अपने उपास्य देव को अब वह शान्ति, आनन्द और मंगल का स्रोत समझ रहा है और बार बार अपना नीरव नमस्कार उसके चरणों में रख कृतार्थ हो रहा है।

इति शम्

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी